दंसण मूलो धम्मो

आत्मधर्म

शाश्वत सुखका मार्गदर्शक आध्यात्मिक मासिक

वीर सं० 2498 तंत्री-पुरुषोत्तमदास शिवलाल कामदार, भावनगर वर्ष 28 अंक नं० 4

चारित्र

ज्ञान

दर्शन

प्रशममूर्ति पूज्य बहिनश्री चंपाबहिन
जिनकी 59वीं जन्मजयन्ती सोनगढ़ में भाद्रपद कृष्णा 2 के दिन
हर्षोल्लासपूर्वक मनायी गई।

श्री दिगंबर जैन स्वाध्याय मंदिर ट्रस्ट, सोनगढ (सौराष्ट्र)

सितम्बर : 1972] वार्षिक मूल्य 4) रुपये (328) एक अंक 35 पैसा [श्रावण : 2498

आनंद-रस का मंथन

आत्मा का ऐसा अद्‌भुत स्वभाव है कि जिसका ज्ञान होते ही महान आनंद होता है। ज्ञान-अनुभूति के ऐसे महा-आनंदरस को स्वामीजी घोंट-घोंटकर पिला रहे हैं। अहा, जिस आनंद की गंध भी पूर्व अनंत काल में कभी नहीं आयी थी, उस अपूर्व अतीन्द्रिय आनंद का स्वाद सम्यग्दर्शन होने पर अनुभव में आया। निर्विकल्प वस्तु विकल्पों से अत्यंत भिन्न जाति की है, उस निर्विकल्प आनंद की लहर के समक्ष गुणभेदों का विकल्प भी दुःखरूप लगता है। उस विकल्प से पार चैतन्य के आनंदरस का मंथन ही आत्मा का जीवन है। ऐसा अनुभव किया, वही सच्चा 'जीवंतस्वामी' हुआ।

हे जीवो! ऐसे आनंदरस को घोंट-घोंटकर पीने के लिए, श्रीगुरु कहते हैं कि तुम दुनिया की अपेक्षा छोड़कर, परम अचिंत्य महिमापूर्वक आत्मा के चिदानंदस्वभाव की गहराई में उतरकर उसका अवलोकन करो, जिसके अवलोकन से चैतन्य के

शाश्वत सुख का मार्गदर्शक मासिकपत्र

आत्मधर्म

संपादक : ब्र० हरिलाल जैन 卐 सह-संपादक : ब्र० गुलाबचंद जैन

सितम्बर : 1972 ☆ श्रावण : वीर नि० सं० 2498, वर्ष 28 वाँ ☆ अंक : 4

विनय श्रद्धांजलि

[प्रशममूर्ति भगवती पूज्य बहिनश्री चम्पाबहिन के 'वन' वर्षों की पूर्णाहुति तथा 59वें वर्ष की जन्म-जयंती के मंगल अवसर पर समर्पित भावभीनी श्रद्धांजलि।]

अध्यात्मयुगप्रवर्तक स्वानुभूतिपथप्रदर्शक परमकृपालु परमपूज्य गुरुदेव श्री कानजीस्वामी की चैतन्यस्पर्शी अमृतवाणी के सुयोग से जिन्होंने अपनी अंत:चेतना जागृत की है, गुरुदेव द्वारा दिया गया ज्ञान-वैराग्यमय दिव्यबोध जिन्होंने अपने जीवन में बुन लिया है, जिनकी निर्मल, निर्विकल्प स्वानुभूतिमय दशा की गुरुदेव बारंबार प्रशंसा करते हैं और 'भगवती', 'जगदम्बा' आदि असाधारण विशेषण देकर गुरुदेव ने जिनके प्रति हममें श्रद्धा, भक्ति एवं बहुमान जागृत किये हैं, उन मंगलमूर्ति पूज्य भगवती बहिनश्री चम्पाबहिन का अपने मुमुक्षु समाज पर विशिष्ट उपकार है; उस उपकारवश आज भाद्रपद कृष्णा दोज के मंगल दिन हम उनका 'वन' वर्षों की पूर्णाहुति तथा 59वें वर्ष का जन्मजयंती-समारोह मना रहे हैं।

पूज्य चम्पाबहिन का व्यक्तित्व अंतर तथा बाह्य अति गंभीर और महान है। बचपन से ही वैराग्यप्रेम, चिंतनशील स्वभाव और दृढ़ निर्णयशक्ति आदि अनेक गुण

उनमें सहज हैं। स्कूल में अभिनीत होनेवाले दमयंती आदि सतियों के वैराग्यप्रेरक संवाद उन्हें खूब पसंद आते थे; साहित्य और गीत भी उन्हें वैराग्य के ही अच्छे लगते थे।

उनका वैराग्यपूर्ण एवं सत्यशोधक हृदय आत्मप्राप्ति के लिये तरसता था। पूज्य गुरुदेव का सत्समागम मिला, उनकी आत्मस्पर्शी अमोघ वाणी का सुयोग प्राप्त हुआ। गुरुदेव की वज्रवाणी ने उनका सत्त्व झलका दिया, सम्यक्त्व प्राप्त करने की अभिलाषा तीव्र हुई, सर्व शक्ति आत्मा में केन्द्रित की; दिन-रात दृष्टि की निर्मलता तथा आत्मानुभूति की साक्षात् प्राप्ति के लिये अथक, अविरत पुरुषार्थ किया, और फलस्वरूप मात्र 19 वर्ष की छोटी उम्र में ही अपना अप्रतिम पुरुषार्थ साकार किया, भवसंततिछेदक सम्यग्दर्शन प्राप्त किया, भगवान आत्मा का साक्षात्कार हुआ और परिणति में अतीन्द्रिय ज्ञानानंदमय निर्मल निर्विकल्प स्वात्मानुभूति का अमृतझरना बहने लगा। धन्य हैं वे महान आत्मा और धन्य है उनका अप्रतिहत पुरुषार्थ!

दिन-प्रतिदिन उस अमृतझरने की—आत्मसाधना की परिणति वृद्धिंगत होने लगी और साथ ही साथ स्मरणज्ञान की परिणति में सातिशय निर्मलता भी प्रगट हुई। पूज्य गुरुदेव को स्वयं वर्षों से जो 'भास' होता था, उनका स्पष्ट हल पूज्य बहिनश्री के स्मरणज्ञान ने दिया। भूत, वर्तमान और भविष्य का आश्चर्यजनक अनुसंधान उन्होंने बतलाया। उस अनुसंधानज्ञान द्वारा मुमुक्षु समाज पर सचमुच महान उपकार हुआ है, गुरुदेव की परिणति को बल मिला है, उनके प्रभावनायोग को वेग मिला है और इसप्रकार जिनशासन की महान प्रभावना हुई है।

प्रशममूर्ति, गुणगंभीर, उदारचित्त पूज्य बहिनश्री अंतर में महान एवं बाह्य में अति निर्लेप हैं। उनके जीवन या उनकी निर्विकल्प आनंदमय अंतरंग दशा का वर्णन करना शक्ति से बाहर है। उनके गहन व्यक्तित्व पर मात्र गुरुदेव ही यथार्थ प्रकाश डाल सकते हैं। गुरुदेव ने उन्हें 'भगवती' और 'जगदम्बा' के वास्तवस्पर्शी विशेष दिये हैं, वे उनकी सहज अंतरदशा तथा उनकी महानता के यथार्थ द्योतक हैं। हमेशा तोल-तोलकर वचन उच्चारनेवाले, तीक्ष्णदृष्टिवंत, स्वरूपानुभवी परम पूज्य गुरुदेवश्री अन्य

किसी भी व्यक्ति को जिन दो विशेषणों से कभी विशेषित नहीं करते, ऐसे उक्त दो महिमापूर्ण विशेषणों से पूज्य बहिनश्री चम्पाबहिन की अनेक बार प्रसन्नतापूर्वक प्रशंसा करते हैं, यही वास्तविकता पूज्य बहिनश्री की अद्‌भुत महत्ता को हमारे हृदय में दृढ़ता से प्रस्थापित करने को पर्याप्त है। इन विशेषणों द्वारा पूज्य गुरुदेव ने संक्षेप में उनके प्रति अपना अहोभाव व्यक्त करता हुआ अपना हार्द प्रगट किया है। गुरुदेव के हार्द को तथा विशेषण के वाच्यार्थ की गहराई को हम गंभीररूप से समझें, गुरुदेव द्वारा दिये गये अध्यात्मबोध को जीवन में उतारनेवाली इन 'भगवती माता' की आत्मसाधना के आदर्श को दृष्टि सन्मुख रखें, और उनके जीवन से मिलती प्रेरणा द्वारा हम अपना आत्मार्थ साधें, ऐसी अंत:करण की भावना है।

भगवती माता पूज्य बहिनश्री भारतवर्ष की अद्वितीय महिलारत्न हैं, मुमुक्षु समाज की शिरोमणि हैं, महिला समाज की छत्र हैं, ब्रह्मचारी बहिनों के प्राण हैं और आत्मार्थियों का महान आदर्श हैं। माता जिसप्रकार बच्चों की संभाल रखती है, उसीप्रकार हे धर्ममाता! आपकी शरण में आये हुए बच्चों की संभाल रखकर भावी देवाधिदेव की सभा में हमें अपने साथ ही रखना, और शाश्वत् ज्ञानानंद की पूर्ण प्राप्ति तक अपना कल्याणकारी साथ देना।—ऐसी अंतरउर्मि से आज जन्मजयंती के मंगल दिन पर आपको सादर भावभीनी श्रद्धांजलि अर्पित करता हूँ।

—ब्रह्मचारी चन्दुलाल खीमचंद झोबालिया, सोनगढ़

ज्ञानी की ज्ञानदशा

ज्ञानपरिणाम और रागपरिणाम एक काल में वर्तते हों, उनमें से ज्ञानी तो ज्ञानपरिणाम में वर्तते हुए उसके कर्ता हैं, वे रागपरिणाम में तन्मयरूप से नहीं वर्तते और उसके कर्ता नहीं होते। धर्मी की दृष्टि में शुद्ध आत्मद्रव्य है, उसी का उन्हें प्रेम है। आत्मा का प्रेम छोड़कर जो परभावों का प्रेम करता है, उसे अनंतानुबंधी क्रोध है, मिथ्यात्व है, वह संसार का मूल है। उस मूल को जिन्होंने सम्यग्दर्शन द्वारा छेद डाला है, ऐसे ज्ञानी की दशा कैसी अलौकिक होती है!

पूज्य बहिनश्री चम्पाबहिन की 59वीं जन्मजयंती के —अवसर पर— पूज्य स्वामीजी के प्रवचनों से लिये गये 59 रत्न

सोनगढ़ में धर्मात्माओं के प्रताप से नित नये मंगल-महोत्सव मनाये जाते हैं, और पूज्य स्वामीजी के मुख से अपूर्व श्रुतरत्नों की वृष्टि होती है। उन रत्नों में से 59 रत्न पूज्य बहिनश्री चंपाबहिन की 59वीं जयंती के अवसर पर यहाँ दिये जा रहे हैं... चैतन्य की अपूर्व चमक से चमकते हुए इन रत्नों का मनन सबको अत्यंत लाभकारी होगा।

* अहो, मेरा चैतन्यतत्त्व ही सबसे उत्कृष्ट रत्न है, इससे उच्च अन्य कुछ नहीं—ऐसा धर्मी अनुभव करता है।

* 'मोक्षार्थिना प्रथमेव आत्मा ज्ञातव्यः'.... मोक्षार्थी को प्रथम ही आत्मा जानना; जानना अर्थात् अंतर्मुख होकर अनुभव करना।

* शुद्धात्मा की अनुभूति हुई, वह मोक्ष के लिए अपूर्व महोत्सव है। अहा, आत्मा की आराधना समान महान मंगल-उत्सव दूसरा क्या होगा! धर्मी जीव के तो निरंतर ऐसा महोत्सव है।

* महा गंभीर जो चैतन्यसमुद्र, उसकी अनुभूति में अकेला सम्यग्दर्शन-रत्न ही नहीं, उसमें तो एक साथ अनंत गुणरत्नों का निर्मल चैतन्य-तेज झलक रहा है। अनंत गुण के एकरस का महा आनंद स्वानुभूति में उछलता है।

* हे जीव! अपने हित के लिए ऐसी गंभीर चैतन्यवस्तु में तू अपनी बुद्धि को लगा। बाह्य कुतूहल में मत रुक।

* तेरे अंतर्मुख उपयोग में चैतन्य का स्फुरण होते ही शांतरस की तरंगें ऐसी उछलेंगी कि उस महा आनंद के वेदन में दु:ख और विकल्प तो कहीं विलीन हो जायेंगे... और अपने चैतन्यप्रभु की प्रसन्नता का तुझे अनुभव होगा।

* सर्वज्ञ भगवंत हम पर प्रसन्न हुए हैं, वे हमारी निकट मुक्ति को केवलज्ञान में देख रहे हैं-यही उनकी वीतरागी प्रसन्नता है।

* धर्मात्मा के मतिज्ञान का ऐसा अचिंत्य सामर्थ है कि वह केवलज्ञान को निकट बुलाता है।

* धर्मी स्वसंवेदन के बल से कहते हैं कि—विदेही भगवंतों की सर्वज्ञता यहाँ बैठे-बैठे हम देखते हैं। शरीर दृष्टिगोचर भले न हो, परंतु उनकी सर्वज्ञता तो स्पष्ट दिखाई देती है।—ऐसा स्वानुभव का बल है।

* साधक धर्मी तो सर्वज्ञ का पुत्र हुआ... सर्वज्ञ का वैभव उसने अपने में देख लिया; उसे तो छोटा सिद्ध (ईषत् सिद्ध) कहा है।

* अहा, साधक में आत्मा के स्वसंवेदन-प्रत्यक्ष का अपार सामर्थ्य है। उसका स्वसंवेदन अचिंत्य-अपार गंभीर है।

* अंतर में राग से भिन्न चेतना को देखा, वहाँ सर्वज्ञता में संदेह क्या?

* अहा! चेतन प्रभु की महिमा की क्या बात! अनंतानंत गुणों की निर्मलता जिसमें उल्लसित हो रही है, उसकी शांति का क्या कहना? ऐसी शांति धर्मी को निरंतर वर्तती है।

* वाह रे वाह! धर्मात्मा की वीतरागता का विलास कैसा अद्भुत है!! कैसा आनंदमय है!! जिसमें अनंत अतीन्द्रिय सुख... उसके विलास का क्या कहना?

* धर्मी जीव अपने को चेतनामय अनुभव करता है... उस चेतना को राग स्पर्श नहीं कर सकता। चेतना समस्त विभावों से विरल है।

मंगल-रत्नवृष्टि

* चेतना निर्विकल्प होकर अंतर में मग्न हुई, वहाँ विकल्प तो विलीन हो गये... विकल्प अलोप हो गये।
* अरे! ऐसे आत्मा को स्वीकार करके उसका अनुभव करनेवाली चेतना, उसमें विकल्प का समावेश कैसे होगा? शांति के समुद्र में अग्नि की चिंगारी कैसे समायेगी?
* आनंद तो जिसका एक गुण है—ऐसे तो अनंत-अनंत-अनंत गुण; उनमें भेद किए बिना धर्मी उनका अनुभव करता है... उसके आनंद की क्या बात!
* अहा! ऐसा गहरा-गंभीर मेरा आत्मा, उसमें मैं भेद नहीं करता। भेद किये बिना मैं अपने में समा जाता हूँ... निर्विकल्प हो जाता हूँ।
* चेतना कहती है कि मैं विकल्प को करती ही नहीं। अनंतगुण से परिपूर्ण मेरी वस्तु, उसमें एक गुण के भेद का विकल्प मैं नहीं करती।
* अरे, विकल्प की शक्ति ही कितनी है! विकल्प में ऐसी शक्ति नहीं कि वह मुझे ग्रहण कर सके! मैं परम चैतन्यरत्न!—उन विकल्पों में नहीं जाता।
* स्वसंवेदन ज्ञान की शक्ति इतनी महान है कि रागरहित अपने परम चैतन्यतत्त्व को अखंड ग्रहण करती है।
* अहो, सर्वोत्कृष्ट चैतन्यरत्न मेरी अनुभूति में उल्लसित हुआ है।
* जिस चेतना ने चैतन्यरस के मधुर स्वाद का आस्वादन किया है, वह चेतना अब विकल्पों के कड़वे स्वाद को क्यों ले?
* आनंदमय निजस्वरूप में मग्न चेतना को पर की चिंता करने का अवकाश ही कहाँ है?
* अनंत-आनंद जिसके अंतर में विद्यमान है, वह दूसरों के पास भीख मांगने क्यों जायेगा?
* हे जीवो! ऐसे अपने परम स्वभाव को लक्ष में लेकर उसी की भावना करो।
* मेरे एकत्व-चैतन्यस्वभाव में संसार का प्रवेश नहीं है।

मंगल-रत्नवृष्टि

* ऐसा आनंदमय मेरा आत्मा, उसे देखने में मैं तल्लीन हूँ, मुझे दूसरे को देखने का क्या काम ? अपने अनंतगुणों के सुख का स्वाद मैं ले रहा हूँ, वहाँ मुझे पर में से सुख लेने का उत्साह ही क्यों आयेगा ? पर में सुखबुद्धि अब कभी नहीं होगी।

* देखो, ऐसी दशा, वह धर्मात्मा की दशा है। उसे पहिचानने पर धर्मी की सच्ची भक्ति होती है।

* चेतनभावरूप धर्मात्मा को पहिचानने पर अन्तर में आनंदमय वीतरागभाव प्रगट होता है, वही सच्चा महोत्सव है... वह मोक्ष का महोत्सव है।

* हे जीव ! अनंतगुण के सुख से पूर्ण बैकुंठधाम तुझमें विद्यमान है, उसमें तू निवास कर। चैतन्य के अचिंत्य वैभव से भरपूर निर्वाणनगरी का तू स्वामी है।

* हे भाई ! अपने हित का यह अवसर तू मत चूक... संसार में बहुत भटक चुका... अब उसका अंत कर ! महिमावंत होकर जाग, जाग, जाग !

* अरिहंत-तीर्थंकर जिस मार्ग से मोक्ष गये हैं, उसी मार्ग को हमने ग्रहण किया है। तीर्थंकरों के मार्ग द्वारा हम आनंदपूर्वक मोक्षनगरी की ओर चल रहे हैं।

* अरे जीवो ! आत्मा का स्पर्श करके उसका निर्णय ज्ञान में करो... उसका निर्णय होते ही मोक्ष का द्वार खुल जायेगा।

* चैतन्यप्रभु का मिलाप होते ही चेतनापरिणति अपूर्व आनंद से आह्लादित होकर उसमें स्थिर हो जाती है और अन्य सबसे पृथक् हो जाती है।

* 'णमो लोए सव्व अरिहंताणं' तीन काल और तीन लोकवर्ती पंचपरमेष्ठी भगवंतों को इस नमस्कारमंत्र में नमस्कार किया है।

* अहो, अरिहंतादि पंचपरमेष्ठी भगवंत कितने महान हैं, कितने अगाध गंभीर सामर्थ्यवान हैं ! उनके स्वरूप का जिन्हें ज्ञान है, वे उन्हें नमस्कार करते हैं।

* पंच परमेष्ठी की महिमा की क्या बात ! उसे ज्ञान में ग्रहण करनेवाले ज्ञान की भी कितनी महानता ! वह ज्ञान विकल्प से पृथक् हुआ है।

* पर को नमस्कार करते समय विकल्प भले हो, लेकिन उसी समय नमस्कार करनेवाले का ज्ञान तो विकल्प से भिन्न ही वर्तता है, वह ज्ञान कहीं विकल्प में नहीं नमता, वह ज्ञान तो अंतर के स्वभाव में नमता है।

* जो जीव विकल्प में नमते हैं-विकल्प से लाभ मानते हैं, वे जीव वास्तव में पंच परमेष्ठी को नमस्कार नहीं करते, क्योंकि विकल्प पंच परमेष्ठी का स्वरूप नहीं है।

* पंच परमेष्ठी और अपने आत्मा का स्वरूप विकल्प से पार है, उसकी पहिचान करनेवाले ने ही पंच परमेष्ठी को नमन किया है। अज्ञानी तो राग में नमता है।

* त्रिकालवर्ती दिव्यध्वनि दातार को नमस्कार... और त्रिकालवर्ती दिव्यध्वनि को नमस्कार... ऐसे मंगलपूर्वक प्रतिदिन प्रवचन प्रारंभ होते हैं।

* त्रिकालवर्ती तीर्थंकरों को नमस्कार किया-उसमें ज्ञान की शक्ति कितनी? भविष्य में तीर्थंकर होनेवाला कोई जीव वर्तमान में भी हो, या अज्ञानदशा में हो, तो उसे भी भेदज्ञान के बल से वर्तमान में ही तीर्थंकररूप से लक्ष में लेकर नमन करता हूँ। (षट्खंडागम के मंगलाचरण में टीकाकार श्री वीरसेनस्वामी ने मिथ्यात्व अवस्था के समय भी ज्ञान-दर्शनस्वभावी जीव का मंगलपना सिद्ध किया है—इसप्रकार मोक्षगामी जीव त्रिकाल मंगल है-ऐसा सिद्ध किया है—यह बात स्वामीजी को बहुत प्रिय है।)

* स्वसन्मुख वीर्य के उत्साहवाला जीव, राग से पार चैतन्यस्वभाव की स्वीकृतिपूर्वक अरहंतादि भगवंतों को नमस्कार करता है। वीतराग को जो नमन करे, उसे राग के प्रति उत्साह क्यों रहेगा?

* अहा, मेरे चैतन्यप्रकाशी दीपक में मेरा परमात्मतत्त्व विद्यमान है। चैतन्यदीपक से सुशोभित आनंदमय सुप्रभात मेरे आत्मा में उदित हुआ है।

* भगवान का मार्ग अर्थात् आत्मा की मुक्ति का मार्ग आत्मा में अत्यंत अंतर्मुख होकर हमने प्राप्त कर लिया है। हम मार्ग में आ गये हैं, अब हमें मुक्ति में संदेह नहीं।

* अहो, अंतरतत्त्व, महासुख का समुद्र, उसकी गहराई में पहुँचकर परिणति भी

सुखसमुद्र में मग्न हुई... ऐसी मग्न हुई कि अब परभावों की ओर देखती भी नहीं है।

* अरे, चेतनापरिणति में यदि साक्षात् चैतन्यप्रभु न पधारें तो उसे चेतनापरिणति कौन कहेगा? वह तो चैतन्यप्रभु से दूर है, बाह्य है। धर्मी को चेतनापरिणति में तो चैतन्यप्रभु निरंतर विराजमान हैं।

* चेतनापरिणति ऐसी है कि उसका राग के साथ कोई मेल ही नहीं खाता, उसका मेल तो अपने चैतन्यप्रभु के साथ ही होता है।

* वाह, मुक्ति का मार्ग... उसकी तो कोई परम अद्भुत महिमा है!... तो जिस आत्मस्वभाव में से ऐसा मार्ग निकला, उसकी महिमा की क्या बात!!

* उस स्वभाव को लक्ष में लेते ही मोक्षमार्ग प्रारंभ हो जाता है।

* अहा, धर्मी का स्वसंवेदन राग से पार है, इन्द्रियों से पार है, वह अतीन्द्रिय चेतना द्वारा अंतर में आत्मा को स्वसंवेदन-प्रत्यक्ष करता है।

* प्रत्यक्षज्ञान का विषय हो, ऐसा ही आत्मा का अतीन्द्रियस्वभाव है; वह अनुमान या परोक्षज्ञान का विषय नहीं हो सकता, वहाँ विकल्प की तो बात ही क्या?

* जिसे स्वयं को स्वानुभूति द्वारा अपने आत्मा का स्वसंवेदन-प्रत्यक्ष हुआ, वही अन्य ज्ञानी के अनुभव को अनुमान से जान सकता है। स्वसंवेदनप्रत्यक्षरहित मात्र अनुमान से धर्मी के आत्मा को नहीं पहिचाना जा सकता।

* अहा, धर्मात्मा की सच्ची पहिचान भी स्वसन्मुखतापूर्वक ही होती है। ऐसी पहिचान करे, वह जीव धर्मी हो जाता है।

* धर्मात्मा की परिणति आत्मा की गहराई में उतरकर महा-आनंद में मग्न हुई, वह परम आनंद के पथ पर चली; वह स्वयं आनंदरूप है और मोक्ष के परम आनंद को साधती है।

* ऐसी आनंदपरिणतिरूप परिणमित हुए जीव तीर्थंकरों के मार्ग में शोभायमान हैं... उन्हें भाव-नमस्कार वर्तता है। (—हरि)

ज्ञानी का स्वसंवेदन

ज्ञानी का ज्ञान स्वसंवेदन से ऐसा जानता है कि—

* मैं तो आनंदस्वरूप हूँ।
* धीरता और गंभीरता, वह मेरी शोभा है।
* विकल्पों के परभाव मुझे स्पर्श नहीं करते।
* मेरा स्वभाव महान उदार एवं उच्च है।
* मेरे स्वभाव से बड़ा और ऊँचा कोई नहीं है।
* अपने में से जितना आनंद निकालूँ, उतना निकले—ऐसा मैं उदार हूँ।
* जगत के अनंत पदार्थों को जानते हुए भी मुझे कोई आकुलता नहीं है।
* मैं अनाकुल शांतरस में परिणमन करनेवाला हूँ।
* आत्मा में ही मैं विश्राम करता हूँ—स्थिर रहता हूँ।
* अपने अनंतगुण-वैभव को मैंने स्वीकार कर लिया है।
* मैंने अतीन्द्रिय होकर अपने महान स्वभाव का अनुभव कर लिया है।
* चैतन्य-पाताल में प्रवेश करके मोक्ष के आनंद का नमूना मैंने अपने में चख लिया है।
* मैं पंच परमेष्ठी भगवंतों की पंक्ति में बैठनेवाला हूँ।

अहा, ज्ञानी का ऐसा ज्ञान आनंद की केलि करता-करता मोक्ष को साधता है।

भरतचक्रवर्ती और उनकी रानियों का उपवास तथा धर्मचर्चा

आत्मज्ञानी भरतचक्रवर्ती पर्व के दिनों में उपवास करते थे, रानियाँ भी उसमें सम्मलित होती थीं; उपवास के दिन वे स्वाध्यायशाला में निवृत्तिपूर्वक कैसे उत्तम भाव से रहते, और कैसी सुंदर धर्मचर्चा करते, उसका भाववाही वर्णन 'भरतेश वैभव' पुस्तक में से यहाँ दिया जा रहा है। जिज्ञासु पाठक इसे पढ़कर आनंदित होंगे।

सम्राट भरत ने विधिपूर्वक त्रिलोकीनाथ भगवान का अभिषेक किया। फिर आदिनाथ प्रभु को वंदन करके वे अपनी रानियों के साथ स्वाध्यायशाला में गये।

यह स्वाध्यायशाला अत्यंत विस्तृत और प्रकाशमय है। वहाँ सूखे घास से निर्मित संयमासन बिछा हुआ है, और बीच में एक सोने की चौकी रखी हुई है।

राजयोगी भरत मध्यवर्ती आसन पर विराजमान हुए; आसपास के आसनों पर उनकी सब रानियाँ बैठ गईं। उस समय का दृश्य ऐसा प्रतीत होता था मानों वे सब सिद्ध विद्या की अधिदेवियाँ हों!

स्वाध्यायगृह में सुगंधित गुलाबजल न था, हवा करनेवाला भी कोई न था और कोई चँवर भी नहीं ढोलता था; उन लोगों के मुखारविन्द से भी कामसंबंधी वचन नहीं निकलते थे; भोग का नाम भी स्मरण करने में नहीं आता था। मोक्षमार्ग में ही उस समय उनका चित्त लीन था।

यदि कोई एक-दूसरे से बोलता तो धार्मिक विषय पर ही बोलता। यदि कोई एक-दूसरे को देखता तो मद और काम से रहित शांतदृष्टि से ही देखता। जब धर्मचर्चा में विशेष आनंद आता, तभी वे हँसते, अन्य कारण से नहीं। उस दिन वे एक-दूसरे का स्पर्श भी नहीं करते थे। कदाचित् वैयावृत्य करने के उद्देश्य से स्पर्श करते तो मात्र भरत को एक तपस्वी समझकर ही स्पर्श करते।

विचार करने की बात है कि उन लोगों का सुख किस श्रेणी का है! आज का उपवास किसप्रकार का है? इतना ही नहीं, लेकिन पति-पत्नी एक साथ रहते हुए भी किंचित् मन में विकल्प का अंश न हो, उसे ही वास्तविक तप कहते हैं। जगत में स्त्री और पुरुष पृथक् रहकर अपना ब्रह्मचर्य व्रत बतला सकते हैं, परंतु एक साथ रहकर भी मन में किसी प्रकार का विकार उत्पन्न न होने देना, वह तलवार की धार पर चलने जैसा है। ऐसे भी बहुत से लोग देखने में आते हैं जो पहले तो व्रत ग्रहण कर लेते हैं, फिर स्त्रियों को देखकर विचलित होते हैं, और लोकलज्जा के भय से किसी प्रकार रुके रहते हैं। कोई-कोई विशाल सभा में व्रत ग्रहण करते हैं, फिर सुंदर स्त्रियों को देखकर मन ही मन में काशीफल की तरह सड़ते हैं। क्या वह व्रत है या आडंबर?

व्रत और संयम को अंगीकार करने पर उन्हें सर्प के समान अत्यंत दृढ़ता से पकड़ रखना चाहिये। जरा भी हाथ को शिथिल करने पर जैसे वह सर्प काटकर अपना सर्वनाश करता है; उसीप्रकार व्रत में शिथिलता भी सर्व का नाश करती है। जिस समय किसी पदार्थ का हम उपभोग करते हैं, उस समय उसे भोग लेना चाहिये, जिस समय हम उसका त्याग करते हैं, उस समय उसका स्मरण भी न करना चाहिये। इतना ही नहीं, उसकी हवा भी नहीं लगना चाहिये। इसप्रकार की चतुराई और विवेक रखना चाहिये। एकबार स्त्री का त्याग कर देने पर स्त्री आकर आलिंगन करे तो भी अपने हृदय में किसी प्रकार का विकार उत्पन्न न होने देना, वह वास्तविक ब्रह्मचर्य है। सन्मुख स्त्री को देखकर मन पिघल जाना, वह झूठा ब्रह्मचर्य है।

जिनके हृदय में दृढ़ता है, भाव में शुद्धता है, वे स्त्रियों से बोलें तब भी निर्लेप हैं। उनकी ओर देखें तो भी क्या? हँसें तो भी क्या? इतना ही नहीं, स्पर्श करें तो भी क्या? उनके मन में रंचमात्र भी विकार उत्पन्न नहीं होता। क्या जल के स्पर्श से कमल के पत्ते भींगते हैं? इसप्रकार स्त्रियों के संबंध में निर्बल हृदयवाले विकारी बनते हैं, परंतु धीरों के हृदय पर उसका कोई प्रभाव नहीं पड़ता।

राजा भरत और उनकी रानियाँ व्रतशूर थे। वे मन को अपने वश में करने में प्रवीण थे। इसलिये उस दिन वे दृढ़ ब्रह्मचर्यवत ग्रहण करके मन रंचमात्र भी द्रवित किये बिना अपने व्रत में दृढ़ थे, जिससे उन्हें धर्मवीर कहना चाहिये। वास्तव में देखा जाये तो सच्चा भी वही है। जगत में जो छिपकर भोजन ग्रहण करता है, उसे यदि किसी ने बीच में रोका तो वह मन में बहुत दु:खी होता है। किसी मनुष्य की क्षुधा पूर्ण तृप्त न हो तो उसे खाने की आकुलता बनी रहती है, लेकिन इन लोगों को सुख की क्या कमी है? अत्यंत तृप्त होकर प्रतिदिन सुख का उपभोग करनेवाला यदि एक दिन उसका परित्याग करे तो उसे क्या दु:ख होता है? बिलकुल नहीं। जिसप्रकार सूर्य के तीव्र ताप में तप्त होने पर भी नीचे शीतल जल रहने से कमल मुरझाता नहीं है, उसीप्रकार उपवास की गर्मी होने पर भी धर्मकथारूपी शीतल अमृत होने से उनको उपवास के ताप का रंचमात्र भी अनुभव नहीं होता।

मध्य में दर्भासन पर चक्रवर्ती विराजमान हैं; वे बीच-बीच में वहाँ बैठी हुई अपनी स्त्रियों को देखते हैं, परंतु आज वे उन्हे स्त्रियों के रूप में नहीं परंतु वे सब तपस्विनी हैं, ऐसा समझते हैं। उसीप्रकार रानियाँ भी जब कभी भरत को देखतीं अथवा उनके साथ चर्चा करती है, तब अपना पति समझकर नहीं बोलतीं, परंतु धर्मोपदेश देनेवाले आचार्य हैं—ऐसा समझकर देखती और बोलती थीं।

सम्राट भरत ने विचार किया कि कुछ धर्म-चर्चा करनी चाहिये। इस अभिप्राय से वे अपनी रानियों से कहने लगे कि तुम्हें आज बहुत कष्ट हुआ होगा। हमारे संसर्ग से कहीं उपवासव्रत से तो ग्लानि नहीं हुई न?

उन देवियों ने सम्राट से प्रार्थना की कि स्वामी! हमें उपवास का कोई कष्ट नहीं हुआ। जब हमें आपका उपदेश सुनने को मिलेगा, तब हमें स्वर्ग के देवों से भी अधिक सुख का अनुभव होगा, फिर ग्लानि कैसी?

हमने उदर-पोषण हेतु अनंत जन्म व्यतीत किये; लेकिन हे गुणनिधि! आत्म-पोषण के लिये तो आपके पवित्र संसर्ग से यही एक जन्म मिला है। हे राजयोगी! अंतरंग को न जानकर बाह्य-विषयों में भ्रमण करते हुए हमने अनंत भव-भ्रमण किये लेकिन आपके संसर्ग से हमें यह राजमार्ग मिला है। स्वामी! स्त्रियों की स्वाभाविक इच्छा पुत्र प्राप्त करने की, अच्छे-अच्छे

वस्त्र पहिनने की और सुंदर-आभूषण धारण करने की होती है, लेकिन उन इच्छाओं को छुड़ाकर आपने हमें नित्य सुख का मार्ग बतलाया है। वास्तव में आप मोक्षरसिक हैं। हे पर्वदिनाचार्य! उपवास का कष्ट तो जाने दीजिये, अब आप हमें धर्मामृत का पान करायें—ऐसी हम सबकी प्रार्थना है—ऐसा कहकर विनयवती और विद्यामणि नाम की दो रानियों को आगे बैठाकर सब रानियों ने धर्मोपदेश सुना।

भरतेश्वर ने उपदेश प्रारंभ करते हुए कहा कि हे विद्यामणि! सुनो। मैं भगवान जिनेन्द्रदेव के शासन को बहुत संक्षेप में कहूँगा। अनंत आकाश के मध्य में तीन वातवलय विस्तृत लंबाई में व्याप्त हैं। जिसप्रकार तीन परतोंवाली थैली में हम कुछ भरकर रखते हैं, उसीप्रकार तीन वातों के बीच यह समस्त लोक है। जो ऊपर दिखाई देता है, वह सुरलोक है। उस सुरलोक के अग्रभाग में मोक्षशिला है, उस पर अविनश्वर, अविचल, अनंत सिद्ध विराजमान हैं। हम जहाँ रहते हैं, वह मध्यलोक है। हे श्रावकी! इस मध्यलोक के नीचे अधोलोक है। इन ऊर्ध्व, मध्य और अधो नामक तीन लोकों में जीव सर्वत्र भरे हुए हैं और सुख-दुःख का अनुभव करते हैं। ऊर्ध्वलोकवासी देवों से लेकर नीचे के जो जीव हैं, वे सब जन्म-मरण के दुःख का अनुभव करते हैं। सुनो, सिद्धों को जन्म-मरण का दुःख नहीं है।

कभी मनुष्य देव होता है, देव मनुष्य होता है, और कभी वह नरक में जाता है; उसीप्रकार हाथी, पशु, सर्प और वृक्षादि कई योनियों जाकर कर्मवश भ्रमण करता है। इसप्रकार जीवों को कई प्रकार की पर्यायें कर्म के कारण प्राप्त होती हैं। यह जीव कभी दरिद्री कहा जाता है, कभी धनवान कहा जाता है, कभी स्त्री होकर अवतार लेता है, कभी पुरुष होकर। इसप्रकार कर्म के संयोग से अनेक प्रकार के दुःखों का अनुभव करते हैं।

इतने में विद्यामणि हाथ जोड़कर उपस्थित हुई और पूछने लगी—हे स्वामी! आपने कहा यह संसार दुःखमय है, और सिद्धलोक में सुख है; तो वह अविनाशी सुख प्राप्त करने का क्या उपाय है? हमें उसका मार्ग बतलाइये।

सम्राट ने कहा—देवी! कर्म-जाल का जो नाश करते हैं, वे सब सिद्धों की तरह सुखी होते हैं।

फिर उसने प्रश्न पूछा कि स्वामी! आपने यह तो ठीक कहा लेकिन यह बतलायें कि कर्मों को नष्ट करने का क्या उपाय है? इसका मर्म भी हमें जरा समझा दीजिये।

देवी! सुनो, जिनेन्द्रभक्ति, सिद्धभक्ति अनेक सत्क्रियाओं से कर्म का नाश करने में आता है। विचार करने से वह जिनेन्द्रभक्ति तथा सिद्धभक्ति भेद और अभेदरूप से दो प्रकार की है। अपने सामने जिनेन्द्र भगवान का और सिद्धों का चित्र रखकर उपासना करना, वह भेदभक्ति है। अपने आत्मा में ही उन्हें विराजमान करके उपासना करना, वह अभेदभक्ति है। विशेष क्या... प्रथम भेदभक्ति के ही अभ्यास की आवश्यकता है। भेदभक्ति का बराबर अभ्यास हो, फिर अभेदभक्ति का अभ्यास करे तो कर्मों का नाश हो सकता है। कर्मों का नाश करने के लिये अभेदभक्तिपूर्वक आराधना की ही परम आवश्यकता है।

पश्चात् वह विद्यामणि खड़े होकर हाथ जोड़कर फिर प्रार्थना करने लगी कि हे स्वामी! आपकी कृपा से हमें भेदभक्ति के स्वरूप का ज्ञान और अभ्यास है। लेकिन अभेदभक्ति में चित्त नहीं लगता। उस दिव्यभक्ति के संबंध में हमें विशेष समझायें।

देवी! जिसप्रकार तुम जिनवास में (जिनमंदिर में) भगवान को सन्मुख रखकर उनकी उपासना करती हो, उसीप्रकार तनुवात में यदि अपने आत्मा को रखकर उसकी उपासना करो तो वह अभेदभक्ति है। यह आत्मा अभी शरीर-प्रमाण है। शरीर के अंदर रहने पर भी उससे भिन्न है। पुरुषाकाररूप है, चिन्मय है, ऐसा जानकर देखें तो उसका दर्शन होता है। एक स्फटिक की शुद्ध प्रतिमा जिसप्रकार धूल में रखने पर भी दिखाई देती है, उसीप्रकार इस देहरूपी धूल की राशि में वह शुभ्र आत्मा आवृत है—ऐसा जानकर उसे देखने का प्रयत्न किया जाये तो वह अंतर में दिखायी देता है। स्फटिक की मूर्ति चर्मचक्षु से देखी जा सकती है, हाथों से स्पर्श की जा सकती है, लेकिन यह एक विलक्षण मूर्ति, चर्मचक्षु से न तो देखी जा सकती और न हाथों से उसका स्पर्श किया जा सकता है। उसे तो आकाश के रूप में बनी हुई स्फटिक मूर्ति समझो। उसे ज्ञानचक्षु से ही देखना पड़ेगा।

संसार का लोभ बहुत बुरा है। परपदार्थों के मोह ने ही इस आत्मा को अभेदभक्ति से च्युत किया है। इसलिये सर्वप्रथम आशापाश को छोड़ो। आशाओं को कम करके फिर एकान्तवास में जाकर आँख बन्द कर उसका चिंतन करो तो उस अवस्था में वह अत्यंत शुभ्ररूप बनकर ज्ञान में अवतरित होकर दिखायी देगा। उसे देखने का प्रयत्न करे तो भी वह एक दिन में दिखायी नहीं देता। अभ्यास करते-करते क्रम-क्रम से उसका दर्शन होगा। लेकिन

यह आवश्यक है कि एक दिन में वह दिखायी न दे तो आलस्य किए बिना पूरा प्रयत्न करना चाहिये।

हे सुखाकांक्षिणी! इसप्रकार की अभेदभक्ति से कर्मों का नाश होता है; मुक्ति की प्राप्ति होती है। समस्त धर्मों में वह उत्कृष्ट धर्म है। सज्जन उसका स्वीकार करते हैं। जिसकी होनहार बुरी है—ऐसे अभव्य उसे स्वीकार नहीं करते।

विद्यामणिदेवी फिर से उठी और हाथ जोड़कर अत्यंत भक्ति से प्रार्थना करने लगी—हे स्वामी! इस अभेदभक्ति का अभ्यास पुरुषों को ही होता है कि स्त्रियों को भी हो सकता है? इसका रहस्य हमें समझा दें।

देवी! सुनो, वह भक्ति दो प्रकार की है। एक धर्म दूसरी शुक्ल; यद्यपि कहने में दो प्रकार की दिखायी देती है, परंतु विचार करने पर एक ही है, क्योंकि दोनों के अवलंबनरूप आत्मा एक ही है।

भक्ति का अभ्यास करते समय अथवा ध्यान करते समय यदि आत्मप्रकाश अल्प प्रमाण में दिखायी दे तो धर्मध्यान समझना चाहिये, यदि विशिष्ट प्रकाश हुआ तो उसे शुक्लध्यान समझना चाहिये। देवी! एक वर्षाकालीन आतप है और दूसरा ग्रीष्मकालीन आतप। इतना दोनों में अंतर है।

जो जीव इस भव में मुक्ति प्राप्त करनेवाले हैं, उन्हें शुक्लध्यान की प्राप्ति होती है, जो क्रमशः अपनी कर्मसंतति को नष्ट करके मुक्ति में जायेंगे, उन्हें धर्मयोग की प्राप्ति होगी; स्त्रियों को उसी जन्म में मुक्ति प्राप्त नहीं होती; क्योंकि स्त्रीपर्याय में शुक्लध्यान की प्राप्ति नहीं होती; परंतु उससे निराश होने की आवश्यकता नहीं है। धर्मयोग को स्त्रियाँ भी धारण कर सकती हैं। उस पर विश्वास लाओ। देवी! समवसरण में कितनी ही अर्जिकाओं ने और संयमी श्राविकाओं ने भगवान ऋषभदेव के उपदेश से इस धर्मयोग को प्राप्त किया है।

इस धर्मयोग से स्त्रीपर्याय का नाश होता है, निश्चय से देवगति की प्राप्ति होती है; तथा क्रमशः मोक्ष की भी प्राप्ति होती है। यह जिनेन्द्रदेव की आज्ञा है। इस पर निश्चय से विश्वास करो।

उपरोक्त उपदेश से प्रसन्न होकर विद्यामणि बैठ गई। उस समय विनयवती नाम की रानी

उठी और हाथ जोड़कर प्रार्थना करने लगी कि हे स्वामी ! देवगति में जाकर जन्म लेने के लिये किस भाव की आवश्यकता है और किन भावों से मनुष्यरूप में उत्पन्न हुआ जा सकता है ? यह बातें हमें समझाइये।

सम्राट ने कहा—देवी ! पुण्यमयभावों से स्वर्ग की प्राप्ति होती है। पाप-विचारों से नरक और तिर्यंचगति की प्राप्ति होती है। पुण्य और पाप दोनों विचारों की समता से मनुष्यगति मिलती है।

इतने में विनयवती फिर हाथ जोड़कर कहने लगी कि वह पुण्यभाव किन साधनों से प्राप्त होता है ? और और पाप विचार के कारण क्या ? यह बात स्पष्टरूप से समझाने की कृपा करें।

देवी ! सुनो। दान देना, पूजा करना, व्रतों का आचरण करना, शास्त्रों का मनन करना आदि पुण्यप्राप्ति के साधन हैं। अभिमान, मायाचार, क्रोध, लोभ मागासक्ति आदि सब पाप के कारण हैं। इसप्रकार कुल जाति की मर्यादा का उल्लंघन न करना, जीवदया रखना, तीर्थक्षेत्र की वंदना करना आदि पुण्य का कारण है। हिंसा, झूठ, चोरी, कुशील और अतिकांक्षा आदि बातों से पाप का बंध होता है।

एक बात विचारणीय है। जो आत्मा पुण्य-पाप के आधीन होकर क्रिया करता है, वह संसार में परिभ्रमण करता है। जो पुण्य-पाप को समदृष्टि से देखकर अपने आत्मा में स्थिर होते हैं, वे अधिक समय यहाँ न रहकर सिद्धशिला पर चले जाते हैं।

विनयवती फिर हाथ जोड़कर प्रार्थना करने लगी कि—हे स्वामी ! स्वर्गसुख का अनुभव करनेवाले पुण्य को और दुर्गति में ले जानेवाले पाप को समदृष्टि से देखने का क्या उपाय है। यह भी समझा दीजिये।

देवी ! स्वर्ग का सुख भी नित्य नहीं, और नारकियों की वेदना भी नित्य नहीं। दोनों अवस्थायें स्वप्न के समान हैं। उन्हें आत्मा का स्वरूप मानना, इससे बढ़कर दूसरा भ्रम क्या होगा ? जिसप्रकार एक मनुष्य वृक्ष पर चढ़कर आनंद से हँसे और फिर नीचे गिरे, उसीप्रकार देव स्वर्ग में दिव्य इंद्रिय-सुखों का अनुभव करके नीचे भूतल पर गिरते हैं। जिसप्रकार कोई बच्चा किसी खड्डे में गिरकर रोते-रोते ऊपर चढ़ता है, उसीप्रकार नारकी जीव भी नरक के

दु:खों का अनुभव करके ऊपर चढ़ते हैं।

जन्म-मरण स्वर्ग में भी है और नरक में भी। शरीर का भार दोनों जगह है। स्वर्ग का शरीर चार दिन सुंदर दिखायी देता है, वहाँ चार दिन सुख प्रतीत होता है। नरक का शरीर दु:खमय लगता है, इतना ही अंतर है।

देवी! नारकी का शरीर हो या देवों का शरीर हो! एक लकड़ी का बोझ है तो दूसरा चंदन की लकड़ी का बोझ है; दोनों में भार की दृष्टि से कोई अंतर नहीं है। इतना ही स्वर्ग और नरक में भेद है। ज्ञानरूपी शरीर को धारण करके पौद्गलिक शरीर के भार से रहित होकर अपने स्वाधीन स्वरूप में स्थिर होना, सो मुक्ति है। ऐसा न करने से ऊँच-नीच शरीर के आधीन होकर परिभ्रमण करने से पुण्य-पाप का बंध अवश्य होता रहेगा।

देवी! देखो, दर्पण पर कीचड़ का लेप करो या चंदन का लेप करो, दोनों प्रकार से दर्पण की स्वच्छता का नाश होता है; फिर वह प्रतिबिंब को दिखाने के काम नहीं आ सकता। उसीप्रकार पुण्य और पाप दोनों के संबंध से आत्मा की स्वच्छता का नाश होता है। जिस तरह दर्पण पर लिप्त चंदन और कीचड़ को घिसकर साफ करने से दर्पण स्वच्छ होता है, उसीप्रकार पुण्य और पाप को आत्मयोगरूपी पानी से धोकर दूर करने से आत्मा अपने स्वरूप में अर्थात् मुक्ति में लीन होता है।

देवी! पाप-पुण्य का त्याग एकदम नहीं हो सकता। प्रथम मनुष्य को पापक्रिया का त्याग करना चाहिये और पुण्यक्रिया में अपनी प्रवृत्ति करना चाहिये। जब उसकी सिद्धि हो जाये, तब पुण्यक्रिया का त्याग कर देना चाहिये। जिसप्रकार धोबी वस्त्र को साफ करने के लिये पहले उसे मसाले के पानी में डुबाये रखता है, फिर स्वच्छ जल में धोता है, तब वस्त्र निर्मल होता है। सिर्फ मसालेदार पानी में ही डुबाये रखने से वह वस्त्र स्वच्छ नहीं हो सकता। उसीप्रकार प्रथम पुण्यवासना के द्वारा पापवासना का नाश करना चाहिये, सिर्फ इतना ही काम नहीं, लेकिन पुण्यवासना को आत्मयोग से धोये, तभी आत्मा जगत्पूज्य बन सकेगा। यहाँ वस्त्र के मैल के स्थान पर पाप है और मसाले के स्थान पर पुण्य है और स्वच्छ जल के स्थान पर आत्मयोग है। पहले कुछ पुण्य एकत्र करना आवश्यक है। आत्मयोग में जो मग्न हैं, उन्हें पुण्य की कोई आवश्यकता नहीं है। इसलिये मैंने तुमसे कहा है कि पुण्य और पाप को समदृष्टि से

देखो। देवी! यह जिनेन्द्रदेव का कथन है, इस पर श्रद्धा रखो।

विनयवती प्रसन्न हुई; अब चंद्रिका नाम की रानी अन्य रानियों की ओर से शंका के लिये खड़ी हुई और प्रार्थना करने लगी कि—हे स्वामी! आपने अब तक हमें जो उपदेश दिया कि पुण्य और पाप को समदृष्टि से देखकर छोड़ देना चाहिये, परंतु इसमें कितना तथ्य है वह समझ में नहीं आता; क्योंकि यदि ऐसा है तो आप पुण्यकार्य कैसे कर रहे हैं? जिनेन्द्र भगवान की पूजा करना, मुनियों को आहारदान देना, शास्त्रों का स्वाध्याय और मनन करना, सज्जनों की रक्षा करना और दुर्जनों को दण्ड देना, उपवास करना इत्यादि बातें क्या पुण्यबंध का कारण नहीं हैं? फिर आप उन्हें क्यों कर रहे हैं? क्या हमारे लिये ही यह उपदेश है?

चंद्रिका देवी! ठीक है! तुमने बहुत सूक्ष्मदृष्टि से विचार करके यह प्रश्न किया है। तुम्हारे हृदय में जो शंका उत्पन्न हुई, वह सहज है। अब तुम ध्यान से सुनो, मैं तुम्हें समझाता हूँ—भरतेश्वर ने कहा।

देवी! मैं पुण्यक्रियायें करता हूँ क्योंकि मैं गृहस्थदशा में रहता हूँ। जब तक मैं गृहस्थदशा में हूँ, तब तक गृहस्थधर्म की मर्यादा का उल्लंघन करना, वह धर्म नहीं है, इसलिये षट्कर्मों का पालन करना मेरे लिये अनिवार्य है। दिगंबर दीक्षा धारण करने के पश्चात् पुण्यकर्म की आवश्यकता नहीं रहती। फिर पुण्यक्रियायें शीघ्र त्याग देना चाहिये। लेकिन राज्य का संचालन करते हुए पुण्य-क्रियाओं को छोड़ देना, वह राजा का लक्षण नहीं है। देवी! मान लो कि मैं कदाचित् आत्मानुभवी होने से पुण्यप्रवृत्ति का त्याग कर दूँ, लेकिन इस विषय में जगत मेरा अनुकरण करेगा अर्थात् वे भी पुण्यविचारों का त्याग कर देंगे; परंतु उन्हें आत्मयोग तो प्राप्त है नहीं और पुण्यक्रियायें छोड़ देंगे तो परिणामरूप तीव्र पापबंध करके नाहक दु:खी होंगे। इसलिये पुण्यप्रवृत्ति का मार्ग दिखला रहा हूँ।

चंद्रिका देवी ने फिर से प्रार्थना की कि हे स्वामी! आपने कहा 'पुण्य-पाप दोनों बंध के कारण हैं; दोनों हेय हैं;' अब कहते हो कि 'दूसरों का अहित न हो, इसलिये पुण्याचरण कर रहा हूँ।' अब आप ही कहो कि दूसरों के लिये भी जो मनुष्य हेय कार्य करता है, उसे बंध होगा या निर्जरा होगी? निर्जरा तो होगी नहीं, कर्मबंध होगा। इसलिये आप ऐसा कार्य क्यों करते हो, यह बात हमें बराबर समझाओ।

भरतेश्वर ने कहा—देवी! सुनो; चित्त को अपने आत्मा में स्थिर करके समस्त बाह्य-क्रियायें ज्ञानी उदासीनभाव से करते हैं। ऐसा करते हुए भी उन्हें बंध नहीं होता। यह धर्म का प्रभाव है। उसे बराबर समझो।

जिसप्रकार से पत्नी को प्रेम या इच्छा से अपने पास रहने को कहो तो रहती है। लेकिन यदि उसे उपेक्षाभाव से कहा जाये तो वह अपने पास नहीं रहती। इसीप्रकार यदि कर्म को अच्छा समझकर आदरपूर्वक उसका स्वागत करे तो जीव उस कर्म में परायण रहता है, और उसे अच्छी तरह कर्मबंधन होता है। परंतु यदि उसे तिरस्कारदृष्टि से (हेयबुद्धि से) देखा जाये तो जीव उस कर्म के परायण क्यों रहे? कर्म वहाँ रही नहीं सकते, इसलिये कहा है कि—ज्ञानी को भोग करने पर भी कर्मबंधन नहीं है। सागारधर्म में रहने पर भी वह अनगार के समान है।

तो फिर आपको उपवासादि आडंबर में पड़ने की क्या आवश्यकता है? क्योंकि भोग करने पर भी आपको बंध तो होता नहीं है; तो फिर आराम से महल में क्यों नहीं रहते? चंद्रावतीदेवी ने हँसकर कहा।

देवी! तुम भूल गई हो, ऐसा लगता है। मैंने कहा था कि भोग में अति आसक्ति करना, वह कर्मबंध का कारण है। भोग का त्याग करने के लिये यह उपवासादि मैं करता हूँ। अन्य कोई कारण नहीं।

चंद्रिकादेवी कहने लगी—हे स्वामी! यह सब आपका परिचित विषय है, इसलिये आप सर्वप्रकार से आत्मसाधना करते हो, हमें वह आत्मभावना नहीं आती, इसलिये उसका उपाय हमें बतलाइये।

देवी! तुममें से किसी को भी परमात्मयोग की प्राप्ति नहीं होती, ऐसा न कहो! किसी किसी के हृदय में वह आत्मभावना प्रगट होती है। जिन्हें उसका अभ्यास है, वे आत्मध्यान करती रहें। जिनमें शक्ति न हो, वे ज्ञाताओं की वृत्ति देखकर प्रसन्न होती रहें। परमात्मध्यान ही मुक्ति का साक्षात् कारण है। इस बात की श्रद्धा करके सब लोग पुण्याचार का पालन करें। तुम भी करो। निश्चत ही भविष्य में तुम्हें मुक्ति का मार्ग दिखायी देगा।

चंद्रिकादेवी प्रसन्न होकर बैठ गईं। इतने में ज्योतिर्माला नाम की रानी उठकर राजर्षि भरत से प्रश्न करने लगी—स्वामी! शास्त्रों में सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्ररूपी रत्नत्रय को मुक्ति

का साधन कहा है। परंतु आप कहते हैं कि आत्मयोग ही मुक्ति का साधन है।—यह आगम विरोधी उपदेश आपने किसलिए किया ?

भरतजी कहने लगे—ज्योतिर्माला! तुमने रहस्य जानकर ही प्रश्न किया है। अच्छी बात है। तुम्हारे विवेक पर मैं प्रसन्न हूँ। अब सुनो, मैं समझाता हूँ। तीन रत्न और आत्मा में कोई अंतर नहीं है। आत्मा के स्वरूप को ही रत्नत्रयी कहते हैं। दर्शन और ज्ञान, यह आत्मा के स्वरूप हैं। दर्शन और ज्ञानस्वभाव में स्थिर भाव से रहने को चारित्र कहते हैं; इसलिये यह तीनों आत्मा से भिन्न नहीं हैं। देवी! रत्नत्रय दो प्रकार का है। आप्त—आगम-शास्त्रों का श्रद्धान और ज्ञान करके व्रतादि में लगना, वह व्यवहाररत्नत्रय है; गुप्तरूप से आत्मा ही का श्रद्धान करना, जानना तथा लीन रहना, वह निश्चयरत्नत्रय है। प्रथम व्यवहाररत्नत्रय का आश्रय करना चाहिये, फिर निश्चय में स्थिर हो जाना चाहिये। देवी! उस समय आत्मा का संसार संबंधी दु:ख नाश को प्राप्त होता है और मुक्ति की प्राप्ति होती है।

इतने में ज्योतिर्माला को एक शंका उत्पन्न हुई। वह कहने लगी—हे स्वामी! आपने कहा कि भगवान की श्रद्धा करना व्यवहार और आत्मा की श्रद्धा करना निश्चय, तो क्या भगवान से भी आत्मा बड़ा है ? यह बात तो हमारी समझ में नहीं आयी। आप बराबर समझायें।

भरतजी अपने मन में विचार करने लगे कि अध्यात्मयोग अनुभव में ही आने योग्य विषय है। वह दूसरे से कहा नहीं जा सकता; यदि नहीं कहेंगे तो मुक्ति की प्राप्ति भी नहीं होगी। इन अबलाओं का व्यर्थ में अकल्याण नहीं होना चाहिये, इन्हें किसी उपाय से समझा देना चाहिए।

सचमुच सम्राट बड़े विवेकी थे, वे प्रत्येक के अंतर को अच्छी तरह से जानते थे, जिससे वह प्रगटरूप से कहने लगे—देवी! शुद्धात्मयोग भगवान से भी विशेष है, यह अभी कहना योग्य नहीं है। इस बात की यथार्थता तुम आगे चलकर बराबर समझ लोगी। अभी तो पंचपरमेष्ठी की उपासना करो। भगवान या पंचपरमेष्ठी आत्मा से भी अधिक हैं। लेकिन आत्मा से भिन्न स्थापित करके उनकी पूजा की जाये तो वह उत्कृष्ट नहीं है। भगवान अपने आत्मा में हैं—ऐसा समझकर उपासना करना, वह उत्कृष्ट धर्म है। देवी! भगवान को बाह्य में स्थापित करके उपासना करोगी तो पुण्यबंध होगा, जिससे स्वर्गादि के सुख की प्राप्ति होगी। यदि

भगवान को अपने आत्मा में स्थापित करके उपासना करोगी तो सर्व कर्मों का नाश होकर मोक्षसुख की प्राप्ति होगी।

काँसे में, पीतल में, सोने में, चाँदी में और पत्थर में भगवान की कल्पना करके उपासना करना, वह व्यवहारभक्ति है, भेदभक्ति है। दूसरे शब्दों में उसे कृत्रिम भक्ति भी कह सकते हैं। अपने निर्मल आत्मा में भगवान को स्थापित करके जो उपासना की जाती है, वह अभेदभक्ति, निश्चयभक्ति है अथवा उसे ही परमार्थभक्ति कह सकते हैं। देवी! अब तुम समझ गईं होगी कि व्यवहारमार्ग ही भेदमार्ग है। निश्चयमार्ग को अभेदमार्ग कहते हैं।

अभेदमार्ग अत्यंत महत्वपूर्ण है। वह कर्मरूपी सर्प के लिये गरुड़ समान है, इसलिये हमने तुमसे कहा भी था कि समस्त दुर्भावों को दूर करके शुभभाव करो, और उस शुभभाव से भी पार अभेदमार्ग की प्राप्ति करो कि जिससे तुम्हें मोक्ष सुख की प्राप्ति हो।

ज्योतिर्माला देवी प्रार्थना करने लगी कि हे स्वामी! यह आपका कहना बिलकुल ठीक है। वह पवित्र मार्ग ग्रहण करना आपके लिये सरल है, परंतु हमारी स्त्रीपर्याय है। हमारा वेष और आकार स्त्रीत्व से युक्त है। आपने कहा कि आत्मा पुरुषाकार रहता है, तो ऐसी अवस्था में हम स्त्रियों को उस पुरुषाकारी आत्मा का ध्यान कैसे हो सकता है? यह समझाने की कृपा करें।

देवी! सुनो, आत्मा की भावना करते समय उसका स्त्री के रूप में ध्यान करने की आवश्यकता नहीं और उस समय अपने को स्त्री समझने की आवश्यकता नहीं। जिसप्रकार के भाव से उसकी भावना करोगी, उसीप्रकार वह दिखाई देता है। 'यादृशी भावना यस्य सिद्धिर्भवति तादृशी' अर्थात् जैसी जिसकी भावना, वैसी उसे सिद्धि होती है; क्या यह तुम नहीं जानती हो?

देवी! प्रथम पदस्थ, पिंडस्थ, रूपस्थ, रूपातीत इसप्रकार चार योगों में अपने को लगाकर फिर स्वयं अपने में स्थिर होना चाहिये। उसका क्रम कहता हूँ। सुनो:—

देवी! पंच नमस्कार-मंत्र के पैंतीस अक्षर हैं। उन्हें अपने हृदय में पाँच पंक्तियों में अंकित करके देखो। तो वह पाँच मोती के हारों की भाँति प्रतीत होंगी। उसे पदस्थध्यान कहते हैं। चंद्रकांत मणि से निर्मित हुई एक उज्ज्वल प्रतिमा स्फटिक के घड़े में जिसप्रकार रहती है,

उसीप्रकार यह आत्मा शरीर में रहता है—ऐसा एकाग्रचित्त से विचार करना, वह पिंडस्थ योग है। कोटिसूर्य अथवा कोटिचंद्र समान प्रकाश को धारण करनेवाले श्री आदिनाथ भगवान हैं—ऐसा ध्यान करना हे देवी! रूपस्थ ध्यान है। समस्त कर्मों से रहित निरुपम, निर्मल, निश्चल, चिद्रूपस्वरूप अनंत सुखी ऐसे भगवंत हमारे शरीर में हैं—ऐसी कल्पना करके एकाग्रचित्त से चिंतन करना, वह रूपातीत ध्यान है।

देवी! प्रथम इन चार ध्यान का अभ्यास करो, फिर तीन ध्यान छोड़कर सिर्प पिंडस्थ ध्यान में ही स्थिर रहने की आवश्यकता है। ज्ञानीगण इस ध्यान की प्राप्ति के लिये प्रयत्न करते हैं। पिंडस्थ ध्यान में ही शेष समस्त ध्यान एकत्र होकर रहते हैं। इस पिंडस्थ ध्यान से ही कर्म खंडित होते हैं और आत्मा को अखंड सुख की प्राप्ति होती है।

देवी! जप, स्तोत्र, दीक्षा, व्रत, स्वाध्याय, तपादि सहायक हैं, इतना ही नहीं, इस पिंडस्थ ध्यान के विषय में इतना उचित है कि वह मुक्ति का साक्षात् बीज है, जिनेन्द्र भगवान का प्रिय मार्ग है; उसे निर्भेदभक्ति भी कहते हैं।

देवी! जगत में दो प्रकार के प्राणी हैं। एक भव्य, दूसरे अभव्य। जो प्राणी कभी मुक्ति प्राप्त नहीं कर सकते और इस संसार में दु:खों का अनुभव करते हुए अनादि-अनंतकाल व्यतीत करते हैं, वे अभव्य हैं। वे आत्मयोग की अनेक प्रकार से निंदा करते हैं। भव्य उसे रुचिपूर्वक स्वीकार करके अनुत सुख प्राप्त कर लेते हैं। (अर्थात् अनंत सुखरूप स्वयं परिणमित होते हैं।) देवी! वे अभव्य जीव शास्त्राभ्यास करते हैं, उपवासादि करके शरीर और पेट को सुखा लेते हैं, लेकिन उनका हृदय कठोर रहता है। वे पापी आत्मयोग को पाखंड समझते हैं, उन्हें आत्मयोग की प्राप्ति नहीं होती; जिन्हें प्राप्ति होती है, उनको वे अभव्य निन्दा करते हैं। कभी कोई उन्हें वह विषय समझाता है तो वे उसके साथ विसंवाद करते हैं कि यह ध्यान स्त्रियों को प्राप्त नहीं हो सकता, तथा गृहस्थों को भी प्राप्त नहीं हो सकता। देवी! शास्त्रों में कहा है कि स्त्रियों को और गृहस्थों को शुक्लध्यान की प्राप्ति नहीं हो सकती परंतु वे अज्ञानी लोगों को भड़काते हैं कि उन्हें धर्मध्यान भी नहीं हो सकता। व्यवहारधर्म को वे मानते हैं, लेकिन निश्चयधर्म को नहीं स्वीकारते। देवी! उन्हें कोई ध्यानशास्त्र का उपदेश देने जाये तो वे कई प्रकार के बहाने बतलाते हैं और कहते हैं कि आत्मयोग को धारण करने के लिये बहुत से शास्त्रों का अध्ययन करना

आवश्यक है और निर्ग्रंथ दीक्षा भी आवश्यक है।—यह बातें हममें नहीं, इसलिये हम इस आत्मयोग को धारण कर नहीं सकते। परंतु देवी! आश्चर्य है कि वे बहुत से शास्त्रों को पढ़कर निर्ग्रंथ दीक्षा से दीक्षित होने पर भी इस संसार में भ्रमण करते हैं।

देवी! आत्मध्यान यदि अपने से हो सके तो अवश्य करना चाहिये, यदि इतनी शक्ति न हो तो ध्यानतत्त्व पर श्रद्धान तो अवश्य करना चाहिये। अपने से न बने तो ध्यान की निंदा करना, वह भव्यों का कार्य नहीं है, परंतु अभव्यों का कार्य है; इसलिये तुम इस पर दृढ़ श्रद्धान करो। अभी तुम्हें ध्यान प्रगट न हो, तब भी कोई हानि नहीं है। संतोषपूर्वक भेदभक्ति का अभ्यास करती रहो, जिससे भविष्य में तुम्हें मुक्ति की प्राप्ति होगी। जिनेन्द्र-पूजा, मुनिदान, धर्मी-सत्कार, जीवदया आदि सत्क्रियाओं का अनुष्ठान करो और आत्मकला पर श्रद्धा करो, अवश्य ही तुम्हें मोक्ष की प्राप्ति होगी। देवी! जिससमय सूतक काल अथवा मासिक-धर्म सदृश अशुभ समय हो, उस समय उपर्युक्त शुभ-क्रियाओं का आचरण करना उचित नहीं है। उस समय अशुचित्वानुप्रेक्षा की भावनापूर्वक मौन रहना चाहिये।

इसप्रकार तुम उपरोक्त कथन के अनुसार आचरण करोगी तो तुम सबका यह स्त्री वेष दूर हो जायेगा और स्वर्ग प्राप्त करके अवश्य ही मुक्ति प्राप्त करोगी। वास्तव में यह सिद्धांत है। इसकी अवश्य श्रद्धा करो।

इसप्रकार सम्राट भरत का उपदेश सुनकर ज्योतिर्माला आदि सभी रानियाँ अत्यंत प्रसन्न हुईं। इतना ही नहीं, उन्हें साक्षात् मुक्ति प्राप्त हुई हो, इसप्रकार से हर्षित हुईं। वे सब आनंदपूर्वक कहने लगीं हे स्वामी! आपकी कृपा से आज हमें ऐसी सम्यक्त्व की प्राप्ति हुई है जो कि किसी भी जन्म में हमें प्राप्त न था। अब हमें मुक्ति प्राप्त होना कौन सी बड़ी बात है? स्वामी! आपके संग से हम कृतकृत्य हो गये हैं। ऐसा कहकर समस्त रानियों ने भरतेश्वर के चरणों में साष्टांग नमस्कार किया।

जब भरतजी ने उन्हें खड़े होने को कहा, तब सब उठकर खड़ी हो गईं।

सूर्य अस्ताचल की ओर चला गया। सबने जान लिया कि अब जिनवंदना का समय हुआ है। उस समय वे रानियाँ तो विशाल जिनमंदिर में जाने लगीं और भरतजी स्वाध्यायशाला में ही रहे।

भरत की रानियों को जिनमंदिर के मार्ग में और भरतजी को स्वाध्यायमंदिर में छोड़कर अब हम अपने प्रिय पाठकों के हृदयमंदिर में जाते हैं। वे अपने मन में विचार करते होंगे कि दिनभर उपवासी रहकर भी दोपहर से शाम तक बराबर तत्त्वचर्चा चलती होगी, फिर भी भरतजी और रानियों को कोई कष्ट नहीं होता, इसमें रहस्य क्या है! विचार करने पर मालूम होगा कि भरतजी दिन-रात परमात्मा के प्रति ऐसी भावना भाते हैं कि—'हे परमात्मा! संसार में एकमात्र आशापाश को दूर करने के लिये आपके सान्निध्य की आवश्यकता है। एक क्षणमात्र भी हमें न छोड़ते हुए हमारे पास ही रहें। जिससे मैं सब चिंताओं को छोड़कर सदा आपकी भावना करता रहूँ। इतना ही नहीं, लेकिन मुझे खाने-पीने में भी उपयोग लगाने का अवकाश लेने की आवश्यकता न रहे और चिरकाल के लिये मेरे क्षुधादि दूर हो जायें।'—ऐसी अवस्था में उपवास का कष्ट कैसे हो? भरतजी की भाँति ही सत्संग में रहनेवाली रानियों को भी वह कष्ट क्यों होता? यह सब पूर्वजन्म के अर्जित पुण्य और आत्मभावना का फल है।

जब इस तत्त्वचर्चा को पढ़नेवाले हमारे पाठकगण भी कुछ देर के लिये भूख-प्यास आदि को भूलकर उसमें तन्मय हो जाते हैं, तो उस चर्चा में साक्षात् भाग लेनेवाले पुण्यपुरुषों को अलौकिक आनंद आने से वे अन्य विषयों को भूल जायें—इसमें आश्चर्य की क्या बात है?

☆★☆★☆★☆★☆★☆★

अरे जीव! तुझे जीवन में जो करना है, वह तो तू करता नहीं, और दूसरे अनर्थकारी वाद-विवाद में रुका रहा है! श्रीगुरु करुणापूर्वक कहते हैं कि अरे जीव! तू चेत! चेत! अपने हित के इस अवसर को मत चूक! बाहरी वाद-विवाद को छोड़कर अपने चैतन्य की अनुभूति में आत्मा को लगा... और भवबंध तोड़।

☆★☆★☆★☆★☆★☆★

अमृत-वर्षा

श्रावण कृष्णा छठ और सप्तमी के वे दो दिन धन्य थे, जिस दिन पूज्य स्वामीजी के श्रीमुख से चैतन्यरसपूर्ण अमृत-वर्षा का प्रारंभ हुआ और मुमुक्षु हृदयों में चैतन्यपुष्प खिल उठे। उन दो दिनों में चैतन्य की अनुभूति के आनंद का जो अमृत बरसा था, वह इस लेख में भरा है। दीर्घकाल से तृषातुर जीवों को वह अवश्य तृप्त करेगा और आनंद के नवीन अंकुर उगायेगा। सोनगढ़ में स्वामीजी के मुख से अध्यात्मरस की अमृत-वर्षा प्रतिदिन हो रही है।

स्वानुभूति-वर्णन

मैं एक, शुद्ध, सदा अरूपी, ज्ञानदृग हूँ यथार्थ से।
कुछ अन्य वो मेरा तनिक, परमाणुमात्र नहीं अरे!॥38॥

समयसार की 38वीं गाथा में धर्मात्मा को आत्मा की कैसी स्वानुभूति हुई है, उसका अलौकिक वर्णन है।

आत्मा को पहले धर्म नहीं था, तब उसकी दशा कैसी थी? और अब आत्मा धर्मरूप हुआ-सम्यग्दर्शनादिरूप हुआ, तब उसकी दशा कैसी हुई?—उसका यह वर्णन है।

जिन्हें आत्मा के आनंदस्वरूप की प्रतीति हुई है, पूर्ण ज्ञान-दर्शनमय आत्मा का अनुभव हुआ है, ऐसे धर्मी जीव जानते हैं कि पूर्व में ऐसे आत्मा का अनुभव किये बिना अनादिकाल से मोह के कारण मैं अत्यंत अप्रतिबुद्ध था, किसी ने मुझे भुलाया था—ऐसा नहीं है, परंतु मैं अपने अज्ञान से अत्यंत अप्रतिबुद्ध था। अपने सुख को भूलकर मैं पर में सुख मानता था, अपना अतीन्द्रिय आनंद मेरे ज्ञान में नहीं आता था, पहले मोह से मैं ऐसा उन्मत्त था, ऐसी अब मुझे प्रतीत हुई है। पूर्व काल में पुण्य तो अनंत बार किया लेकिन अप्रतिबुद्ध ही था। परंतु

अब प्रतिबुद्ध हुआ, तब कैसा हूँ ? सो कहते हैं।

विरक्त गुरु द्वारा निरंतर समझाये जाने पर किसी भी प्रकार अपना स्वरूप समझकर मैं सावधान हुआ। समझानेवाले गुरु कैसे हैं ? कि—विरक्त हैं, राग में रक्त नहीं हैं लेकिन राग से विरक्त हैं; राग से भिन्न चैतन्यरूप अपने को अनुभव करते हैं, वे वैसा स्वरूप समझाते हैं। जिसे अभी राग से भिन्न अतीन्द्रिय आनंदमय स्वरूप अनुभव में नहीं आया, वह अज्ञानी, आत्मा का स्वरूप नहीं समझा सकता, इसलिये गुरु कैसे हैं, उनकी भी अब मुझे पहिचान हुई है। राग और ज्ञान की भिन्नता के अनुभव द्वारा जो विरक्त हैं, ऐसे विरक्त गुरु ने निरंतर शुद्ध आत्मा का स्वरूप समझाया है।

शिष्य को गुरु का उपदेश सुनते ही आत्मा के अनुभव की धुन लगी, निरंतर उसे स्वरूप समझने की उत्कंठा है, अतः समझानेवाले गुरु भी उसे निरंतर समझा रहे हैं, ऐसा कहा। मुनि आदि ज्ञानी गुरु कहीं समझाने के विकल्प में ही निरंतर नहीं वर्तते, जहाँ एकबार श्रीगुरु के पास से आत्मा के ज्ञान-आनंदस्वरूप का श्रवण किया, वहाँ अंतर में 'स्पर्श' होकर निरंतर उसी की धुन लगी है, इसलिये श्रीगुरु भी मुझे निरंतर मेरा स्वरूप समझा रहे हैं—ऐसा कहा है।

अब श्रीगुरु ने क्या समझाया है ? कि—श्रीगुरु का उपदेश झेलकर अंतर में जैसे चिदानंद-शुद्ध-एक आत्मा का मैंने सम्यग्दर्शन में अनुभव किया है, वैसा ही आत्मा श्रीगुरु ने मुझे निरंतर समझाया है। जहाँ अनुभव हुआ, वहाँ प्रतीति हुई कि—अहो! श्रीगुरु मुझे ऐसा आत्मा समझाते थे।

देखो, दूसरा उल्टा-सीधा समझाने की बात नहीं ली; परंतु मुझे शुद्ध आत्मा के अनुभव की इच्छा थी और श्रीगुरु ने भी वही स्वरूप मुझे समझाया। शास्त्रों में तो दूसरी व्यवहार की भी बातें आती हैं, परंतु उन पर मेरा लक्ष नहीं है; शुद्ध आत्मा कैसा है और उसका अनुभव कैसे हो-वही एक लक्ष है, इसलिये श्रीगुरु ने भी वही समझाया—ऐसा कहा है।

अहो, मेरी ऐसी चैतन्य वस्तु, श्रीगुरु ने मुझे समझायी... राग से पार, भेदों से पार, ज्ञान-दर्शन से परिपूर्ण अनंत चैतन्यरस से भरपूर मैं हूँ—ऐसा अपने स्वसंवेदनप्रत्यक्ष से मैंने अनुभव किया। मेरी परमेश्वरता मुझमें ही है। जिसप्रकार कोई मुट्ठी में लिये हुए सोने को भूलकर बाह्य में ढूँढ़े तो दुःखी होता है, और जहाँ स्मरण करके अपनी ही मुट्ठी में लिया हुआ सोना देखे कि यह रहा सोना!—वहाँ शीघ्र ही उसप्रकार का दुःख मिट जाता है। उसीप्रकार रागादि परभावों की

पकड़ के कारण जीव स्वयं अपनी परमेश्वरता भूल गया था, इसलिये वह दु:खी था; परंतु श्रीगुरु ने उपदेश से सावधान होकर अंतर में देखा कि अहा! परमेश्वरपना तो मुझमें ही है!—वहाँ अनंत गुण के परम-ऐश्वर्य से भरे हुए परमेश्वररूप अपने को अनुभव करते ही महा परम आनंद होता है—ऐसी अनुभूति प्रगट करने का यह वर्णन है। शिष्य ने नि:शंक कहा है कि—ऐसी अनुभूति मुझे हुई है। अरे भाई! ऐसे आत्मा के अनुभव बिना चौरासी के अनंत अवतार तूने किये; स्वर्ग और नरक के अनंत अवतार तूने किए; परंतु तेरी चैतन्य वस्तु कैसी है, उसे तूने नहीं देखा। अब उस चैतन्यवस्तु को समझने का यह अवसर है। चैतन्यवस्तु में अनंत गुणों का रस भरा है, उसे जानने पर स्वसंवेदनप्रत्यक्षपूर्वक श्रद्धा हुई—निर्विकल्प अनुभूति हुई—महा अतीन्द्रिय आनंद हुआ—अनंत गुणों का रस एक साथ अभेद अनुभूति में प्रगट हुआ।

स्व-पर को जाननेवाला तत्त्व मैं हूँ—ऐसा ज्ञानसत्तारूप धर्मी अपने को अनुभव करता है। पहले ज्ञानसत्ता को भूलकर परसत्ता में एकत्व मानता था, अब अपनी ज्ञानसत्ता की प्रतीति हुई कि अहो, यह सब जानने में आता है, उसमें जानने की सत्तारूप जो सदा अनुभव में आता है, वह मैं हूँ। ज्ञानसत्ता कहते ही चैतन्य के अनंत गुण उसमें एक साथ अनुभव में आते हैं। ऐसी चैतन्यसत्तारूप स्वसंवेदन से स्वयं अपने को जाना, वहाँ मोह का नाश हो गया। आत्मस्वरूप के यथार्थ ज्ञानपूर्वक श्रद्धा और अनुभव होता है, वह तीनों राग से भिन्न हैं। आत्मा को जानना अर्थात् उसके सन्मुख होकर अनुभव करना, वही जाना कहा जाता है। इसप्रकार आत्मा को जानना—श्रद्धा करना और अनुभव करना, वह मोक्षमार्ग है। शिष्य कहता है कि ऐसा अनुभव करके अब मैं सम्यक् एक आत्माराम हुआ, पहले मैं अप्रतिबुद्ध—उन्मत्त था, अब सच्चा आत्माराम हुआ। ऐसा मैं अपने आत्मा को स्वानुभव प्रत्यक्ष चैतन्य-ज्योतिरूप अनुभव करता हूँ, मेरी पर्याय ऐसे आत्मा के अनुभवरूप परिणमित हो रही है।

धर्मी को अपना आत्मा शुद्धरूप से ज्ञान में-श्रद्धा में-अनुभव में आया, उसका यह वर्णन है।

'मैं शुद्ध हूँ'—क्योंकि व्यवहारिक भेदरूप नवतत्त्व से पार एक ज्ञायकस्वभावभावरूप मैं अपना अनुभव करता हूँ, मेरी इस शुद्ध अनुभूति में नवतत्त्व का विकल्प नहीं है। नवतत्त्व के भेदों में जो अशुद्धतत्त्व है, वह असद्भूतव्यवहार है, और जो संवरादि शुद्ध तत्त्व है, वह सद्भूतव्यवहार है। ऐसे भेदरूप व्यवहार के अनुभव में अशुद्धता है। नवतत्त्व के भेद से पार जो एक ज्ञायकभावरूप भाव, उसरूप मैं अपना अनुभव करता हूँ; इसलिये मैं शुद्ध हूँ—ऐसा

अनुभव, वह आगम का सार है। ऐसा अनुभव करनेवाला ज्ञान आत्मा को आनंदरूप करता है, ज्ञान स्वयं अतीन्द्रिय आनंदस्वरूप होकर परिणमित होता है। ज्ञान और सुख कहीं भिन्न नहीं हैं। चैतन्य के सर्व गुणों का रस अनुभूति में समाता है।

ज्ञान-दर्शन उपयोगस्वरूप चैतन्यमय मैं हूँ, चैतन्यपने को मैं कभी छोड़ता नहीं हूँ। चैतन्यभावरूप ही मैं अपने को सदा अनुभव करता हूँ। चैतन्यभाव की अनुभूति में मोह का अभाव है, दु:ख का अभाव है।

अहा, मेरा चैतन्यरस ऐसा है कि जिसमें मोह है ही नहीं। आनंदमय चैतन्य निजरस, उसमें से अब शुद्ध ज्ञानदशा की ही उत्पत्ति निरंतर होती रहेगी, मेरे निजरस में मोह की जड़ है ही नहीं; इसलिए अब पुन: कभी मोह का अंकुर नहीं फूटेगा। अरे, मेरे चैतन्यरस में मोह कैसा? मेरे आत्मा में तो ज्ञान का प्रकाश प्रगट हुआ है, महान ज्ञानप्रकाश उदित हुआ है, अब मोहांधकार नहीं रहा। आत्मसन्मुख होकर मति-श्रुतज्ञान को आत्मा ने प्रत्यक्ष जान लिया है, स्वसंवेदन में ज्ञान अतीन्द्रिय हुआ है। उस अतीन्द्रिय ज्ञानप्रकाश की क्या बात! महान ज्ञान-उद्योत हुआ है।—मैं ऐसा निर्मोही हुआ हूँ। ज्ञान की अस्ति और मोह की नास्ति, ऐसी अपनी स्वरूपसंपदा को देखकर आत्मा प्रसन्न हुआ है, तृप्त हुआ है, महान शांतरस के समुद्र में मैं निमग्न हुआ हूँ—ऐसी शुद्ध आत्मअनुभूति मुझे हुई है।

ऐसा महान ज्ञानप्रकाश प्रगट हुआ, महान आत्मपरमेश्वररूप मैंने अपने को अनुभव किया, अब मेरे चैतन्य की महत्ता को कोई छीन नहीं सकता। स्वानुभव में प्रगट हुआ जो मेरा महान ज्ञानप्रकाश, वह अब जगत में किसी से नष्ट नहीं किया जा सकता। अहा, मेरे चैतन्य का कोई परम अद्भुत अचिंत्य चमत्कार है। ऐसी परम अद्भुत संपदावान अपने चैतन्यस्वरूप का मैंने अनुभव किया है, अब मुझे जगत के किसी पदार्थ में एकत्वबुद्धिरूप मोह क्यों होगा? कभी नहीं हो सकता।

जो धर्मी होता है, उसे ऐसी अनुभूति होती है। ऐसे आत्मा की अनुभूति के बिना धर्मीपना नहीं होता। यहाँ तो धर्मी हुआ जीव कहता है कि मैंने अपने आत्मा को अनुभव से प्रत्यक्ष जाना है, अतीन्द्रिय आनंद के वेदन सहित सीधे ज्ञान से मैंने अपने आत्मा को जाना है; जानने में आनंद आदि अनंत गुणों का कार्य भी साथ है। उसमें मन का-राग का-इन्द्रिय का कुछ भी आलंबन नहीं है। चैतन्य के समुद्र में मग्न होकर ज्ञान अतीन्द्रिय हुआ, उसमें ऐसा

आत्मा धर्मी को प्रत्यक्ष भासित हुआ है; ऐसे ज्ञान के साथ उसकी श्रद्धा हुई है और उस समय निर्विकल्प आनंद की अनुभूति हुई है। चैतन्यपिण्ड समस्त राग-विकल्पों से पृथक् हो गया है; अब राग का कण भी मुझे चेतनस्वरूप भासित नहीं होता।—ऐसा महान ज्ञानप्रकाश मुझे प्रगट हुआ है।

आज की अमृतवर्षा झेलकर आनंदित हुई पूज्य दोनों धर्ममाताओं ने हार्दिक उल्लासपूर्वक निमोक्त मंगलगीत गवाया था:—

आज सोनेरी महा मंगल दिन ऊग्यो रे...
आवो रे सौ भक्तजनों मंगल वाणी सूणीए रे...
गुरुराज मुखेथी आज अमृत वर्षा वरसे रे...

* * *

निर्विघ्न चैतन्यविलासी आत्मिक आनंददाता
निरंतर शुद्धात्म-प्रतिबोधक गुरुदेव श्री जयवंत हो!

—: आराधना की प्रेरणा :—

अरे जीव, यह शरीर तो अवधि पूर्ण होने पर तुझे छोड़ देगा, परंतु तू सामने से मोह को छोड़कर शरीर की प्रीति छोड़। ऐसा अशुचि का पिंड यह क्षणभंगुर शरीर तुझे क्यों प्रिय लग रहा है? और परम सुखमय पवित्र चैतन्यस्वभाव क्यों प्रिय नहीं लगता? एक बार आत्मा को प्रिय बना और जगत का प्यार छोड़! तेरा चैतन्यदेव तुझसे पृथक् कहीं देश-देशांतार में नहीं है, तेरा देव तुझसे किंचित् दूर नहीं है, वह तुझमें ही है। अंतर्दृष्टि से प्रयत्न करके देखे तो तुझमें ही विराजमान शाश्वत चैतन्यदेव तुझे स्पष्ट दिखायी देगा... वही भगवान है, वही महिमावंत है, वही परम अर्थात् उत्कृष्ट होने से परमात्मा है; वही दिव्य चैतन्यमय देव है। दर्शन-ज्ञान-चारित्र द्वारा उसी की सेवा तथा आराधना कर। उसकी आराधना से तू भव-समुद्र का किनारा प्राप्त कर लेगा... अंतर्मुख होकर चैतन्य के ध्यान द्वारा मोक्षसुख की प्राप्ति होती है।

महान आत्मार्थ को साधने में तत्पर होओ!

छोटी-छोटी बातों में न रुको!

जगत के छोटे-बड़े अनेक प्रसंगों में जीव कभी-कभी अटक जाता है; जिससे वह आकुलित होता है और अपने विचार-भँवर से बाहर नहीं निकल सकता; इसके परिणामस्वरूप वह आत्मप्रयत्न से अग्रसर नहीं हो सकता। आत्मार्थी को ऐसे प्रसंगों में न रुककर उद्यमपूर्वक अपने आत्मकार्य को साधना चाहिए—ऐसा संतों का संबोधन है, क्योंकि स्वभाव की अचिंत्य महिमा के प्रति उल्लसित वीर्यवान जीव आत्मा को साध सकता है।

हे जीव! जिनका तेरे आत्मार्थ के साथ संबंध नहीं है, ऐसी छोटी-छोटी बातों में तू अटकेगा तो अपने महान आत्म-प्रयोजन को तू कब साधेगा? जगत में अनुकूल और प्रतिकूल प्रसंग तो बनते ही रहते हैं, तीर्थंकरों और चक्रवर्तियों को भी ऐसे प्रसंग कहाँ नहीं आये? मान और अपमान, निंदा और प्रशंसा, सुख और दु:ख, संयोग और वियोग, रोग और निरोग—ऐसे अनेक परिवर्तनशील प्रसंग तो जगत में होते ही रहते हैं—लेकिन तेरे जैसा आत्मार्थी यदि छोटे-छोटे प्रसंगों में ही आत्मा को रोक देगा तो आत्मार्थ के महान कार्य को तू कब साध सकेगा? क्या तेरे आत्मार्थ का सामर्थ्य ऐसा कमजोर है कि बाह्य क्षणिक प्रसंगों से खंडित हो जाये? आत्मार्थ को साधने में ऐसी शिथिलता नहीं चल सकती।

—इसलिये ऐसे प्रसंगों से अतिशय उपेक्षित हो, उनमें किंचित् अपनी शक्ति को नष्ट न कर। उन प्रसंगों का तेरे आत्मार्थ के साथ कोई भी संबंध नहीं—ऐसा निर्णय करके जिसप्रकार आत्मार्थ की सिद्धि हो, उसीप्रकार प्रवर्त! और आत्मार्थ की सिद्धि में बाधक हो, ऐसे परिणामों को अत्यंत रूप से छोड़, उग्र प्रयत्न द्वारा छोड़! शूरवीर होकर अपनी संपूर्ण शक्ति को आत्मसाधना में लगा। तुझे महान आनंद की प्राप्ति होगी, अपूर्व शांति होगी।

जगत में अनेक प्रकार के परिणामवाले जीव वर्तते ही रहेंगे, इसलिए उनका खेद-विचार छोड़... और उपरोक्त संयोगानुसार उनके साथ भी आत्मार्थ का संबंध नहीं, ऐसा समझकर उनके प्रति उपेक्षित हो... और आत्मार्थ की साधना में ही उग्ररूप से प्रवर्त! बारंबार आत्म-परिचय कर-करके उसमें मग्न हो।

किसी भी प्रकार मुझे अपने आत्मार्थ को साधना है, यह एक ही जगत में मेरा कार्य है—ऐसा अति दृढ़ निश्चयवंत हो। अपने आत्मार्थ के लिये जो कुछ भी सहन करना पड़े, वह सहन करने के लिये मैं तैयार हूँ, लेकिन किसी भी प्रकार से मैं अपने आत्मार्थ के कार्य से चलित न होऊँगा। उसमें रंचमात्र भी शिथिल न होऊँगा... आत्मा के प्रति अपने उत्साह में कभी भंग नहीं पड़ने दूँगा।—अपनी संपूर्ण शक्ति को, पूर्ण ज्ञान को, अपने समस्त वैराग्य को, श्रद्धा को, भक्ति को, उत्साह को, सहनशीलता को—अपने सर्वस्व को मैं आत्मार्थ में लगाकर अवश्य आत्मार्थ की साधना करूँगा।—ऐसे दृढ़ परिणाम द्वारा आत्मार्थ को साधने में तत्पर हो!

आत्मार्थ साधने के लिये तेरी ऐसी सच्ची तत्परता होगी तो जगत में किसी की शक्ति नहीं कि तेरे आत्मकार्य में विघ्न डाल सके। जिसे आत्मार्थ की सच्ची तत्परता है, उसे समस्त जगत आत्मार्थ की प्राप्ति में अनुकूल परिणमित हो जाता है, और वह जीव अवश्य ही आत्मार्थ को साध लेता है।

इसलिये हे जीव! जगत में अन्य सब भूलकर तू आत्मार्थ के प्रति सच्ची तत्परता कर, तो तुझे अल्पकाल में महान आनंदसहित तेरा आत्मा अवश्य प्राप्त होगा।

राग-द्वेष को दूर करो!

राग-द्वेष जीव का मूल स्वरूप नहीं है; जीव का मूल स्वरूप तो ज्ञान है। ज्ञानस्वरूप के अनुभव द्वारा राग-द्वेष का क्षय हो जाता है। राग या द्वेष, शुभ या अशुभ, वह अशुद्धभावपरिणति है; अज्ञान के कारण जीव अपने को वैसे अशुद्धस्वरूप ही अनुभव करता है; ज्ञानी तो राग-द्वेष से भिन्न शुद्धचैतन्य की पहिचान द्वारा शुद्धअनुभवशील हुए हैं, इसलिये अपने को शुद्धस्वरूप ही अनुभव करते हुए रागादि अशुद्ध भाव का क्षय करते हैं। शुद्धता के अनुभव बिना राग-द्वेष का क्षय कभी हो ही नहीं सकता; इसलिये कहते हैं कि—शुद्धचैतन्य के अनुभवशील ऐसे सम्यग्दृष्टि जीव, तत्त्वदृष्टि अर्थात् शुद्ध जीवस्वरूप के अनुभव द्वारा राग-द्वेष को मूल में से मिटाकर दूर करो!

ज्ञान सत्ता का स्वीकार

पिछले दिनों स्वामीजी की अस्वस्थता के कारण जब प्रवचन बन्द थे, तब भी स्वामीजी के अंतर में ज्ञानरस का मंथन तो चलता ही रहता था। कभी-कभी स्वामीजी उसे व्यक्त करते थे। एक बार स्वसंवेदन ज्ञान की अद्भुत महिमा संबंधी उद्गार स्वामीजी ने व्यक्त किये थे। उन्हीं के आधार से लिखा गया यह संक्षिप्त लेख यहाँ दिया जा रहा है। [—संपादक]

स्वसत्तापूर्वक पर को जाननेवाला ज्ञान, वह प्रमाण है। अर्थात् जाननेवाला ज्ञाता के अपने ज्ञानपूर्वक पर को सच्चा जानता है।

जाननेवाला ज्ञानशक्तिवान पदार्थ, वह कर्ता,
ज्ञान द्वारा जानता है, वह ज्ञान उसका साधन,
जाननेरूप परिणति करता है, वह उसकी क्रिया।

इसप्रकार कर्ता-करण-क्रिया इन तीनों का आत्मा में समावेश होता है। अब जाननेवाला स्वयं कर्ता होकर अपने ज्ञानसाधन द्वारा तथा अपनी ज्ञानक्रिया द्वारा परज्ञेय को जानता है—वहाँ वह परज्ञेय की ही सत्ता को स्वीकार करे और जाननेवाले की सत्ता को स्वीकार न करे तो वह ज्ञान कैसा? उसे प्रमाण कौन कहे? 'घट-पट आदि जान तू तेथी तेने मान (लेकिन) जणनारने मान नहि, कहीअे केवुं ज्ञान?'—यह ज्ञान नहीं, यह तो अज्ञान है।

जिसमें अपनी ज्ञानस्वरूप स्वसत्ता का स्वीकार मुख्य हो, वही सच्चा ज्ञान है। पदार्थों को मैं अपने ज्ञान द्वारा जानता हूँ—ऐसा कोई कहे, और मुझे पदार्थ प्रत्यक्षगोचर होते हैं परंतु अपना ज्ञान प्रत्यक्षगोचर नहीं होता—ऐसा कहे तो वह स्वसत्ता का अस्वीकार करने जैसा है।

दीपक के प्रकाश में पदार्थ प्रत्यक्ष ज्ञात होते हैं और दीपक का प्रकाश ज्ञात नहीं होता—ऐसा कैसे हो सकता है? उसीप्रकार पदार्थ ज्ञात होते हैं परंतु जिसमें पदार्थ ज्ञात होते हैं,

वह ज्ञान जानने में नहीं आता—ऐसा कैसे हो सकता है ? अहो, चैतन्यस्पर्शी न्यायों से सन्तों ने तो ज्ञान का स्वसंवेदन कराया है। अरे जीव! सर्वत्र प्रथम तू अपने ज्ञान को देख। स्वोन्मुखी होकर ज्ञानस्वरूप अपने को प्रत्यक्ष जाने बिना एक भी पदार्थ का तेरा ज्ञान सच्चा नहीं होगा। स्व के ज्ञानसहित पर का ज्ञान ही सच्चा ज्ञान है।

- ज्ञान के अतिरिक्त पदार्थ कहीं पदार्थों को प्रकाशित नहीं करते।
- ज्ञान ही स्वसत्ता से उन पदार्थों को प्रकाशित करता है–जानता है।
- पदार्थों को जाननेवाला वह ज्ञान स्वयंप्रकाशी शक्तिवाला होने से स्वयं अपने को भी जानता है।
- ज्ञान के अतिरिक्त जो पदार्थ हैं, वे कहीं स्वयं अपने को प्रकाशित नहीं करते, उन्हें तो दूसरा प्रकाशित करता है अर्थात् ज्ञान उन्हें प्रकाशित करता है।
- परंतु ज्ञान तो स्वयं अपने को भी प्रकाशित करता है; स्वयं अपने को प्रकाशित करने में (जानने में) उसे दूसरे की आवश्यकता नहीं होती।
- जिसप्रकार शब्दों के बिना भी (यह घट, यह पट—ऐसे शब्द बिना भी) ज्ञान होता है; उसीप्रकार शब्द या शब्द-संबंधी विकल्पों के बिना अकेले ज्ञान द्वारा ज्ञानस्वरूप आत्मा का ज्ञान होता है।
- अहा, ज्ञान का स्वभाव तो देखो! राग के बिना ही स्वयं अपने स्वरूप में प्रकाशित हो रहा है, राग और विकल्पों से पृथक् रहकर अर्थात् वीतरागी आनंदरस में निमग्न रहकर स्व-पर को प्रकाशित करता रहे, ऐसा अचिंत्य मेरा ज्ञानस्वरूप है—ऐसे ज्ञानस्वरूप का संतों ने स्वसंवेदन कराया है।

जय हो वीतरागी संतों की!

दस धर्मों का स्वरूप

सम्यग्दर्शन सहित वीतरागभाव द्वारा जिनकी सच्ची आराधना हो सकती है—ऐसे उत्तमक्षमादि दस धर्मों का स्वरूप यहाँ पूज्य स्वामीजी के प्रवचनों में संक्षेप में दिया जा रहा है। मुनिवर इन धर्मों के मुख्य आराधक हैं और श्रावकों को भी इनका स्वरूप जानकर शक्ति-अनुसार उपासना करनी चाहिये।

❀ चाहे जिस परिस्थिति में भी चैतन्यभावना के बल द्वारा वीतरागी समभाव में स्थिर रहना और क्रोधरूप विषमभाव नहीं होने देना वह उत्तम क्षमाधर्म है। यह क्षमा मोक्षमार्गी संतों की सहचरी है। क्रोध की उत्पत्ति साधकभाव में बाधा उत्पन्न करनेवाली है—ऐसा समझकर उसे दूर से ही छोड़ना चाहिये और क्षमाभाव को मोक्ष का साधन जानकर उसे अंगीकार करना चाहिये।

❀ शरीर, रूप, जाति, कुल आदि की अपेक्षा मेरा ज्ञानस्वभावी आत्मा ही जगत में श्रेष्ठ है—ऐसी भावना द्वारा मद की उत्पत्ति नहीं होती अर्थात् मार्दवधर्म होता है।

❀ मेरे रत्नत्रय में मेरा कोई दोष न हो—ऐसी भावना द्वारा रत्नत्रय में लगे हुए किसी दोष को छिपाये बिना उसे गुरु के समीप सरल भाव से व्यक्त करके छोड़ना, सो आर्जवधर्म है।

❀ भेदज्ञान द्वारा सत्यस्वभाव को जाननेवाला जीव जिनवाणी अनुसार सत्यवचन बोले और असत्य बोलने की वृत्ति न हो, वह सत्यधर्म है।

❀ भेदज्ञान की भावना के बल से रत्नत्रय की आराधना में तत्पर और भव-तन-भोग से विरक्त ऐसे जीव को ममत्वरूप मलिनभाव नहीं होते, तथा रत्नत्रय की शुचिता बनी रहती है, वह शौचधर्म है। (शौच=पवित्रता)

- चैतन्य के परम शांतरस में निमग्नता द्वारा इन्द्रिय-विषयों के ओर की वृत्ति या क्रोधादि कषायों की उत्पत्ति न हो, स्वरूप की आराधना में सम्यक्प्रकार से उपयोग लगा रहे, वह संयमधर्म है।
- चाहे जैसा उपसर्ग आने पर भी अपने चैतन्य के चिंतन से च्युत न होना तथा विषय-कषायरूपी चोर को उपयोगरूपी घर में प्रविष्ट न होने देना, सो तप है। यह तप विषय-कषायरूपी चोर से अपने रत्नत्रयरूपी धन को बचाने के लिये महान योद्धा समान रक्षक है तथा आनंद का दाता है।
- स्वसंवेदन में आया हुआ शुद्ध आत्मा ही मेरा है, अन्य कुछ भी मेरा नहीं है—ऐसा शुद्धात्मा के अतिरिक्त सर्वत्र ममत्व का अभाव, सो त्यागधर्म है। श्रुत का प्रवचन, शास्त्रदान आदि भी इस त्यागधर्म के पोषक हैं।
- एक शुद्ध चैतन्य ही मेरा है, अन्य कुछ किंचित् मेरा नहीं है—ऐसी अकिंचनरूप चैतन्यभावना द्वारा शरीरादि समस्त परद्रव्यों के प्रति ममत्व का त्याग, सो आकिंचन्यधर्म है।
- ब्रह्मस्वरूप आत्मा के अतीन्द्रिय आनंद के स्वाद में बाह्य विषयों से वृत्ति का उड़ जाना, वह उत्तम ब्रह्मचर्यधर्म है। विशुद्ध बुद्धि के बल से ऐसी निर्विकार भावना हो जाये कि स्वर्ग की देवी ललचाये, तथापि विकार की वृत्ति न हो और माता या भगिनीवत् निर्विकार भावना बनी रहे—ऐसे जीव को उत्तम ब्रह्मचर्यधर्म होता है।

इन उत्तम क्षमादि दस धर्मों की आराधना करनेवाले संतों का अत्यंत भक्तिपूर्वक स्मरण करें... और उन्हीं जैसी आराधना के दीपक हमारे आत्मा में प्रज्वलित हों—ऐसी भावना भावें।

संसार के घोर विकल्पों से छूटने के लिये क्या करना ?

'मैं शांत ज्ञान हूँ'—ऐसी भावना भाना। शांत ज्ञान में संसार के विकल्पों का प्रवेश नहीं है, इसलिये उसकी भावना करनेवाला जीव घोर संसार-विकल्पों से छूटता है और मुक्ति की परम शांति का वेदन करता है।

श्री पंडित दीपचंदजी साधर्मीकृत

ज्ञान-दर्पण

[गतांक से आगे]

(मनहर)

मूरति पदारथ जे भासत मयूर जामैं, विकारता उपल मयूर मकरंद की।
भावन की ओर देखे भावना मयूर होइ, रहे यथावत दसा नहीं परफंद की॥
तैसैं परफंद ही मैं पर ही सौं भासतु हैं, पर ही विकार रीति नहीं सुखंकद की।
एक अविकार शुद्ध चेतन की वोर देखैं, भासत अनूप दुति देवचिदानंद की॥42॥

(मतगयन्द सवैया)

मेरो सरूप अनूप विराजत, मोहिमैं और न भासत आना।
ज्ञान कलानिधि चेतन मूरति, एक अखंड महासुख थाना॥
पूरण आप प्रताप लिये, जहँ जोग नहीं पर के सब नाना।
आप लखै अनुभाव भयौ अति, देव निरंजनकौ उर ज्ञाना॥43॥

ज्ञानकला जागी जब परबुद्धि त्यागी तब, आतमिक भावना में भयो अनुरागी है।
पर परपंचन में रंच हू न रति मानै, जानै पर न्यारौ जाकै साची मति जागी है॥
महाभवभार के विकार ते उठाइ दीए, भेदज्ञान भावनसौं भयौ पर त्यागी है।
उपादेय जानि रति मानी है स्वरूपमाहिं, चिदानंददेव मैं समाधि लय लागी है॥44॥

दरसन ज्ञान सुद्ध चारितकौं एक पद, मेरो है स्वरूप चिह्न चेतना अनंत है।
अचल अखंड ज्ञानज्योति है उद्योत जामैं, परम विशुद्ध सब भाव में महंत है॥
आनंद कौ धाम अभिराम जाकौं आठौं जाम, अनुभयें मोक्ष कहै देव भगवंत है।
सिवपद पाइवेकौ और भाँति सिद्धि नाहिं, यातैं अनुभयो निज [1]मोक्ष-त्रियाकंत है॥45॥

---

1. मोक्ष-त्रियाकंत=मोक्षदशारूपी स्त्री का पति

अलख अरूपी अज आतम अमित तेज, एक अविकार सार पद त्रिभुवन मैं।
[2]चिरले स्वभाव जाकौ समैं हू समार्यौ नाहिं, परपद आपौ मानि भम्यौं भव वन मैं॥
करम कलोलनि मैं डोल्यौ है निशंक महा, पद पद प्रति रागी भयौ तन तन मैं।
ऐसी चिरकाल की हू विपति बिलाय जाय, नैक हूँ निहारि देखौ आप निजधन में॥46॥

निहचै निहारत ही आतमा अनादि सिद्ध, आप निज भूलिहीतैं भयौ व्यवहारी है।
ज्ञायक सकति जथाविधि सो तौ गोप्य दई, प्रगट अज्ञानभाव दसा विसतारी है॥
अपनौ न रूप जानै औरहीसौं और मानै, ठानै भवखेद निज रीति न संभारी है।
ऐसे तो अनादि कहौ कहा साध्य सिद्धि अब, नैक हूं निहारौ निधि चेतना तुम्हारी है॥47॥

एक वनमाहिं जैसे रहतु पिशाची दोइ, एक नर ताकौ तहाँ अति दुख द्यावैं है।
एक वृद्ध विकराल भाव धरि त्रास करै, एक महा सुंदर स्वभाव कौं लखावै है॥
देखि विकराल ताकौं मनमाहिं भय मानै, सुंदर को देखि ताकौं पीछे दौरि धावे है।
ऐसौ खेद-खिन्न देखि काहू जन मंत्र दीयौ, ताको उन आनि वो निसंक सुख पावै है॥48॥

तैसैं याही भाव जामैं संपत्ति विपत्ति दोऊ, महासुखदु:खरूप जनकौं करतु है।
गुरुदेव दीयो ज्ञानमंत्र जब जब ध्यावै, तब न सतावै दोऊ दुख को हरतु है॥
करिके विचार उर आनिए अनूप भाव, चिदानंद दरसाव भावकौं धरतु है।
सुधापान कीएं और स्वाद को न चाखै कोऊ, कीएं शुद्ध रीति शुद्ध कारिज सरतु है॥49॥

देव जिनराज से अनादि के बताय आए, तैसो उपदेश हम कहाँ लौं बतावैंगे।
गहैं पररूप से स्वरूप की चितौनी चूके, अनुभौसौं केतेई भव मैं भमावैंगे॥
एतौ हू कथन कीएं लागै जो न उरमाही, तिनसे कठोर नर और न कहावैंगे।
कहे 'दीपचंद' पद आदि देकैं कोऊ सुनौ, तत्त्व के बहैया भव्य, भवपार पावैंगे॥50॥

एक गुण सूक्ष्मकौ एतौ विस्तार भयौ, सवै गुण सूक्ष्म स्वभाव जिंहि कीने है।
एक सत् सूक्ष्म के भेद है अनंत जामैं, अगुरुलघु ताहूकों सूक्ष्मता दीने है॥
अगुरुलघुताई सो सारे गुणमांहि आई, अनंता अनंत भेद सूक्ष्म यौं लीने हैं।
सबै गुणमांहि एसैं भेद सधि आवत है, तेही जन पावैं 'दीप' चेतनता चीने हैं॥51॥

2. दीर्घकाल में

विविध समाचार

सोनगढ़ (सौराष्ट्र)—परमोपकारी पूज्य श्री कानजीस्वामी सुख-शांति में विराजमान हैं। प्रौढ़ जैन शिक्षण-शिविर में इस बार करीब 500 शिक्षार्थियों ने भाग लिया। दिल्ली, उत्तरप्रदेश, मध्यप्रदेश, राजस्थान, महाराष्ट्र आदि प्रान्तों के लोग शिविर में सम्मलित हुए। उन दिनों सोनगढ़ का आध्यात्मिक वातावरण दर्शनीय था। लोग जगह-जगह तत्त्वचर्चा करते थे। पूज्य स्वामीजी के आध्यात्मिक प्रवचनों के उपरांत पूजा, भक्ति, रात्रिचर्चा में शंका-समाधान आदि के कार्यक्रम नियमित चलते थे। भाद्रपद कृष्णा दूज को पूज्य भगवती बहिनश्री चम्पाबहिन की 59वीं जन्म-जयन्ती सोनगढ़ में हर्षोल्लासपूर्वक मनायी गई थी। आपको अनेक भव की स्मृति है—जिसकी महिमा पूज्य गुरुदेव के मुख से अनेक मुमुक्षुओं ने सुनी है।

शिक्षण-शिविर की उत्तम कक्षा में मोक्षमार्गप्रकाशक एवं जैनसिद्धांत प्रश्नोत्तरमाला; मध्यम कक्षा में द्रव्यसंग्रह तथा जैन सिद्धांत प्रवेशिका और प्रथम कक्षा में छहढाला तथा प्रवेशिका पढ़ाई जाती थीं। अंतिम दिन शिविर का समापन-समारोह हुआ और शिक्षार्थियों में पूज्य स्वामीजी के हाथ से पुस्तकें वितरित की गईं। रात्रि को फतेपुर पंचकल्याणक-महोत्सव की फिल्म दिखलायी गई थी। श्री जैन अतिथि सेवा समिति, दिगम्बर जैन बोर्डिंग के अलावा श्री सेठ भगवानदास शोभालालजी सागरवालों के बँगले में मेहमानों को उतरने की अच्छी व्यवस्था थी। दिनांक 12-9-72 से दशलक्षण पर्व का प्रांरभ हुआ है। बाहर से अनेक लोग दशलक्षण पर्व का आराधन करने हेतु सोनगढ़ पधारे हैं।

भोगाँव (उत्तरप्रदेश)—श्री ब्रह्मचारी हेमराजजी यहाँ लगातार अध्यात्मगंगा बहा रहे हैं। प्रात:काल 7.00 से 8.00 तक समयसार पर तथा शाम को 8.00 से 9.00 तक पद्मनंदीपंचविंशतिका पर मार्मिक प्रवचन तथा तत्त्वचर्चा प्रश्नोत्तर आदि करते हैं। दोपहर को महिला समाज में 2.00 बजे से 4.00 बजे तक तत्त्वार्थसूत्र तथा छहढाला चलाते हैं। जैन समाज अत्यंत धर्मलाभ ले रही है। —योगेशचन्द्र जैन, भोगाँव (उ.प्र.)

मुफ्त मंगा लें:—जो महानुभाव अपने यहाँ वीतराग विज्ञान पाठशाला चलाना चाहते हैं, वे पत्र डालकर पाठशाला प्रारंभ करने संबंधी फार्म व नियमावली नि:शुल्क मंगा लें।

टोडरमल स्मारक भगवन, ए-4, बापूनगर, जयपुर-4

साहित्य-प्रकाशन संबंधी आवश्यक सूचना

श्री दिगम्बर जैन स्वाध्यायमंदिर ट्रस्ट, सोनगढ़ संस्था के प्रकाशन-विभाग ने निम्नोक्त ग्रंथ छपाने का निर्णय किया है। जिन मुमुक्षु मंडलों को इन पुस्तकों की आवश्यकता हो, वे आवश्यक प्रतियों की संख्या हमें सूचित करें; ताकि कितनी प्रतियाँ छपाई जाएँ, यह निर्णय हो सके। जिन्हें दो-चार प्रतियों की आवश्यकता हो, उन्हें ऑर्डर लिखवाने की आवश्यकता नहीं है।

1— श्री समयसार नाटक (श्री पंडित बनारसीदासजी कृत)

2— श्री अष्टपाहुड (श्रीमद् भगवत्कुन्दकुन्दाचार्यकृत)

3— श्री नियमसार शास्त्र (श्रीमद् भगवत्कुन्दकुन्दाचार्यकृत)

4— श्री मोक्षमार्गप्रकाशक (श्री पंडित टोडरमलजी कृत)

पता:—श्री दिगम्बर जैन स्वाध्याय मंदिर ट्रस्ट, सोनगढ़ (सौराष्ट्र)

आवश्यकता:—हमें एक ऐसे विद्वान की आवश्यकता है जो वीतराग विज्ञान विद्यापीठ परीक्षाबोर्ड से संबंधित स्कूलों, पाठशालाओं व वीतरागविज्ञान पाठशालाओं का निरीक्षण कर सके व नवीन पाठशालायें खुलवा सके तथा स्कूलों में पाठ्यक्रम चालू कराने का प्रयत्न कर सके। अध्यात्म रुचिवाले प्रभावशाली वक्ता को प्रमुखता दी जायेगी। वेतन योग्यतानुसार अच्छा ही दिया जायेगा। मंत्री, टोडरमल स्मारक भवन

ए-4, बापूनगर, जयपुर

केन्द्राध्यक्ष व मंत्री महोदयों से:—श्री वीतराग विज्ञान विद्यापीठ परीक्षाबोर्ड जयपुर की शीतकालीन परीक्षा सन् 1972 में 15000 छात्र तथा ग्रीष्मकालीन परीक्षा में 2135 परीक्षार्थी सम्मिलित हुए। एवं ग्रीष्मकालीन प्रशिक्षण शिविर आगरा में कुल 210 अध्यापकों ने प्रशिक्षण प्राप्त किया। विवरण इस प्रकार है—

शीतकालीन परीक्षा		**ग्रीष्मकालीन परीक्षा**	
बालबोध परीक्षा	10678	बालबोध परीक्षा	1865
प्रवेशिका परीक्षा	2370	प्रवेशिका परीक्षा	270
ग्रंथश: परीक्षा	385	योग	2135
विशारद परीक्षा	63		
गुजराती शाखा अहमदाबाद से	1504		

—: नये प्रकाशन :—

❀ **मोक्षशास्त्र-तत्त्वार्थसूत्र** (उमास्वामी विरचित) दिगम्बर जैनाचार्यों के आधार सहित विशाल टीका। गुजराती टीकाकार—श्री रामजीभाई दोशी 'एडवोकेट' (जो श्री दिगम्बर जैन स्वाध्यायमंदिर ट्रस्ट सोनगढ़ संस्था के भूतपूर्व अध्यक्ष हैं और आज भी संस्था को जिनका योग्य मार्गदर्शन प्राप्त है)।

अनुवाद—श्री पंडित परमेष्ठीदास जैन न्यायतीर्थ। बड़ी साइज (क्राउन आठपेजी), पृष्ठ 740, मूल्य-छह रुपये (जो लागत से काफी कम है।) पोस्टेज पेकिंग अलग।

❀ **सम्यग्दर्शन** (प्रथम भाग) (चौथी आवृत्ति) जिसमें पूज्य स्वामीजी के प्रवचनों से लिये गये छोटे-छोटे लेखों द्वारा सम्यग्दर्शन का सरल मार्ग बतलाया गया है।

लेखक—श्री ब्रह्मचारी हरिलाल जैन, अनुवाद—मगनलाल जैन

पृष्ठ संख्या—(डिमाई साइज में) 272, मूल्य—2=50

❀ **भेदविज्ञानसार** (द्वितीयावृत्ति) श्री समयसारजी शास्त्र के सर्वविशुद्धज्ञान अधिकार पर स्वामीजी के प्रवचनों का संग्रह। अत्यंत उपयोगी पुस्तक।

लेखक—श्री ब्रह्मचारी हरिलाल जैन, अनुवाद—मगनलाल जैन

पृष्ठ संख्या—280, मूल्य—2=00

❀ **मूल में भूल** (चौथी आवृत्ति) 'सत्तास्वरूप' पुस्तक तथा भैया भगवतीदास के निमित्त-उपादान दोहों पर स्वामीजी के प्रवचन।

लेखक—ब्रह्मचारी हरिलाल जैन, अनुवाद—श्री पंडित परमेष्ठीदास जैन, न्यायतीर्थ

❀ **छहढाला** (सचित्र) (नौवीं आवृत्ति) श्री पंडित दौलतरामजी कृत; जो जैन-समाज में एक पाठ्य-पुस्तक के रूप में प्रचलित है। लागत मूल्य दो रुपये होने पर भी ज्ञान-प्रचारार्थ एक रुपये में दी जाती है। पृष्ठ-208 रंगीन चित्रों सहित।

❀ **छहढाला** (मूल मात्र) बड़े टाईप में, पृष्ठ - 24, मूल्य : 00=20 पैसे

❀ **श्री जैन सिद्धांत प्रश्नोत्तरमाला** (भाग-1, सातवीं आवृत्ति) श्री ब्रह्मचारी दुलीचन्द जैन ग्रंथमाला द्वारा प्रकाशित पाठ्य-पुस्तक, जो अनेक पाठशालाओं में चलती है।

पृष्ठ-136, मूल्य 1=00 रुपये

मिलने का पता:—

श्री दिगम्बर जैन स्वाध्यायमंदिर ट्रस्ट, सोनगढ़ (सौराष्ट्र)

शतं जीव शरदः

पूज्य भगवती बहिनश्री चंपाबहिन

मंगलकारी 'तेज' दुलारी, पावन मंगल मंगल है;
मंगल तव चरणों से मंडित, अवनी आज सुमंगल है।
भादौं दूज सुमंगल उत्तम, वीरपुरी अति मंगल है;
मंगल जन्म-महोत्सव का यह, अवसर अनुपम मंगल है॥

***

बालापन से प्रौढ़ता, वैरागी गुणवंत;
मेरु सम पुरुषार्थ से, देखा भव का अन्त।
रिद्धिसिद्धि-निधान है, गंभीर चित्त उदार;
भव्यों पर इस काल में, अद्‌भुत तव उपकार॥

छोटे सिद्ध

तुमने कभी छोटे सिद्ध देखे हैं ?

हाँ; सोनगढ़ में पूज्य स्वामीजी ऐसे छोटे सिद्ध अनेक बार बतलाते हैं:

अपने को सहज चैतन्य-विलासरूप अनुभव करनेवाला साधक धर्मात्मा जानता है कि—संसारीपना, वह मैं नहीं हूँ, संसार के कारणरूप कोई भाव मैं नहीं हूँ; सहज चैतन्यस्वरूप भाव के अनुभव में मुझे संसार संबंधी कोई भाव नहीं है। सम्यक्त्व की प्राप्ति हुई, तब से जीव को ऐसे आत्मा का अनुभव है। अहा, आनंद के परम अमृत से भरपूर स्वभाव मेरी दृष्टि में आया है, अत: पर्याय में भी अमृत की वर्षा होती है, और सिद्ध जैसे सुख का वेदन होता है।

मनुष्यपना या स्वर्गपना, वह मैं नहीं हूँ, उसके कारणरूप शुभराग मैं नहीं हूँ, चारों गति के भाव या भव के हेतुरूप 148 कर्मप्रकृतियाँ वे मेरे चैतन्य में हैं ही नहीं। भव के अभावरूप मेरी चैतन्यवस्तु है, उसकी अनुभूति में भव कैसा ? मोक्ष के आनंद से परिपूर्ण आत्मा जहाँ अनुभव में आया उसमें अब भव कैसा ? चौदहवें गुणस्थान तक उदयभाव हो, लेकिन मेरी चैतन्य-अनुभूति में तो उन उदयभावों का अभाव ही है। अहा! ऐसी अनुभूतिवाले साधक को तत्त्वार्थसार में 'ईषत् सिद्ध' अथवा 'नो सिद्ध' अर्थात् छोटे सिद्ध कहा है। उनके साधकभाव में संसार का अभाव ही है, और असंख्यात समय में वे साक्षात् सिद्ध होंगे।—यह छोटे सिद्ध और वे बड़े सिद्ध—दोनों को नमस्कार हो!

प्रकाशक : श्री दिगम्बर जैन स्वाध्याय मन्दिर ट्रस्ट, सोनगढ़ (सौराष्ट्र)
मुद्रक : मगनलाल जैन, अजित मुद्रणालय, सोनगढ़ (सौराष्ट्र)